प्रसाद का नाट्य-शिल्प

प्रकाशक | हिन्दी साहित्य संसार,
१५४३, अमीरचन्द मार्ग, दिल्ली-६
शाखा | खजान्ची रोड, पटना-४

मूल्य | पैंतालिस रुपये (४५-००)
मुद्रक | शुक्ला प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा
इण्डिया प्रिंटर्स दिल्ली-६

प्राक्कथन

विगत तीन-चार दशाब्दों से हिन्दी नाटक-साहित्य तथा विशेषकर जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर अनेकानेक समीक्षात्मक एवं शोध-ग्रंथों का प्रणयन हुआ है। समग्र रूप से आलोचनात्मक ग्रंथों के परिशीलन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाटक-साहित्य के लगभग सभी पक्षों पर किसी-न-किसी रूप मे आनुषंगिक रूप में अवश्य ही विचार किया गया है। किन्तु प्रसादजी के समस्त नाट्य-साहित्य का शिल्प के धरातल पर वर्गीकरण तथा प्रत्येक नाट्य-रूप के अन्तर्गत कतिपय कृतियों का भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-विधान के अनुरूप विवेचन-विश्लेषण करने का यह प्रयास प्रथम ही है।

वस्तुतः नाटककार का वास्तविक मूल्यांकन उसके नाट्य-शिल्प के आधार पर ही किया जा सकता है। प्रसादजी की कला मूलतः भारतीय तथा पाश्चात्य विधान को समन्वित रूप में लेकर चली है। प्रस्तुत कृति में इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही प्रसाद के नाटकों का भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-विधान के आधार पर विवेचन-विश्लेपण एवं मूल्यांकन किया गया है।

यद्यपि हिन्दी नाटक-साहित्य तथा प्रसाद नाट्य-साहित्य पर अनेक समीक्षात्मक ग्रंथ आज उपलब्ध हैं, परन्तु जिस दृष्टिकोण के आधार पर प्रस्तुत कृति का निर्माण किया गया है, उसका पूर्ववर्ती शोध एवं आलोचनात्मक साहित्य मे प्राय. अभाव ही है। सामान्य रूप से हिन्दी नाटक-साहित्य पर डॉ० सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास', डॉ० वेदपाल खन्ना 'विमल' का 'हिन्दी नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन', डॉ० दशरथ ओझा का 'हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास' मूलतः ऐतिहासिक विकासक्रम को ही प्रस्तुत करते हैं। डॉ० दशरथ ओझा के शोध-प्रबन्ध में प्रसाद के नाटकों पर केवल एक अध्याय है। इसमें भी नाट्यकला-विषयक मात्र संकेत ही मिलते है, विस्तारपूर्वक विवेचन नही मिलता। इसके साथ ही इन ग्रंथों में कही भी प्रसाद के नाटकों का शिल्प के धरातल पर वर्गीकरण नहीं किया गया है : डॉ० कैलाशपति ओझा 'हिन्दी त्रासदी : सिद्धान्त और परम्परा', डॉ० विश्वनाथ मिश्र 'हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव', डॉ० दशरथसिंह 'हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी

नाटक', डॉ० श्रीपति शर्मा 'हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव' शोध-प्रबन्धों में डॉ० कैलाशपति ओझा का शोध-प्रबन्ध आंशिक रूप से ही प्रसाद के नाटकों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते है। डॉ० कैलाशपति ओझा के ग्रंथ मे केवल त्रासदी नाट्य-रूप का ही विवेचन-विश्लेषण किया गया है, अन्य नाट्य-रूपों का इसमें संस्पर्श नही मिलता। डॉ० विश्वनाथ मिश्र और डॉ० श्रीपति शर्मा के शोध-प्रबन्ध हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव ही स्पष्ट करते है। इनमें भी प्रसाद की नाट्यकला के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं मिलती। इस सन्दर्भ में डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का शोध-प्रबन्ध 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रबन्ध में प्रसाद के नाटकों को पूर्णरूपेण भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। वस्तुत: इस कृति में शास्त्रीय बन्धनों के आधार पर ही नाटकों का मूल्यांकन करने से नाट्यकला का स्वाभाविक सौन्दर्य उद्भूत नहीं हो पाया है। इस शोध-प्रबन्ध मे एकांगिता तथा पूर्वाग्रह का दोष स्पष्ट है।

पूर्ववर्ती सामग्री के पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अभी तक प्रसाद के समस्त नाट्य-साहित्य का सर्वांगीण वैज्ञानिक रीति पर विवेचन-विश्लेषण नहीं किया जा सका है। प्रस्तुत कृति का प्रणयन इस दिशा में इस कमी को पूरा करने का विनम्र प्रयास है।

प्रस्तुत पुस्तक सात अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय में रूपक के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसके तत्त्वों की भारतीय दृष्टि से सैद्धान्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इसमें रूपक, उसके भेद, नाटक का स्वरूप और उसके तत्त्वों के लक्षण दिए गए है। इस सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए भरत, धनंजय, आचार्य विश्वनाथ, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सागरनन्दी प्रभृति आचार्यों के मतों को आधार बनाया गया है। इसी सैद्धान्तिक समीक्षा को भारतीय नाट्य-विधान स्वीकार किया गया है।

दूसरे अध्याय में यूरोप के प्रमुख नाट्य-रूपों और उनकी प्रवृत्तियों की सैद्धांतिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। यद्यपि यूरोपीय नाट्य-साहित्य में अनेकानेक रूप मिलते हैं, तथापि इसमें केवल वही नाट्य-रूप लिए गए हैं जिनका प्रसाद के नाटकों से सम्बन्ध है। इसमें त्रासदी, कामदी, गीतिनाट्य, प्रतीक नाटक तथा एकांकी नाटक सम्मिलित किए गए हैं।

तीसरे अध्याय में 'प्रायश्चित','राज्यश्री','विशाख', 'अजातशत्रु' तथा 'स्कन्दगुप्त' को त्रासदीय तत्त्वों की प्रधानता के आधार पर त्रासदी नाटक माना गया है और पाश्चात्य त्रासदी तथा भारतीय नाट्य-विधान के आधार पर इनका विवेचन किया गया है।

चौथे अध्याय में 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' को मूलत: सुखान्तक रचनाएं होने के कारण कामदी के अन्तर्गत विवेचित किया गया है।

पांचवें अध्याय में गीतिनाट्य के अन्तर्गत 'करुणालय' का विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

छठे अध्याय में प्रतीकात्मक नाटक के अनुरूप होने के कारण 'कामना' का मूल्यांकन किया गया है।

सातवें अध्याय में आधुनिक एकांकी-नाटक के शिल्प के आधार पर 'एक घूंट' की विवेचना की गई है।

अन्त में उपसंहार के अन्तर्गत प्रसाद के समस्त नाट्य-साहित्य के अनुशीलन से उपलब्ध तथ्यों का उल्लेख किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री-संकलन के सम्बन्ध में मेरा विनम्र निवेदन है कि अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी मुझे 'कल्याणी-परिणय' एकांकी नाटक मूल रूप में उपलब्ध नही हो सका है। इसी कारण अपने मत की पुष्टि के लिए नाटक से उद्धरण नहीं दिए जा सके हैं।

प्रस्तुत अध्ययन परम्परा से थोड़ा भिन्न है। इस प्रबन्ध की विशेषता यह है कि इसमें त्रासदी तथा कामदी को नवीन धरातल पर देखने का प्रयास किया गया है। त्रासदी का सम्बन्ध दुःखान्त भावना से न जोड़कर उन सभी नाट्य-कृतियों को त्रासदी के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है जो सुखपर्यवसायी होते हुए भी समग्र प्रभाव तथा परिवेश में जीवन का गम्भीर तथा दुःखमय एवं करुण पक्ष प्रस्तुत करती हैं। इसी प्रकार कामदी का सम्बन्ध भी सुखपर्यवसायी तथा हास्य-उत्पादक रचना से न जोड़कर कृति की शैली तथा नाटककार के दृष्टिकोण से स्थापित किया गया है। आधुनिक कामदी में त्रासदी की भाँति ही कष्ट तथा निराशा का चित्रण करते हुए भी नाटककार मूलतः जीवन का मंगलमय चित्र उपस्थित करता है। त्रासदी तथा कामदी के इस नवीन स्वरूप को आधार बनाकर ही प्रसाद के नाटकों को त्रासदी तथा कामदी वर्ग में विभाजित किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन की यही उपलब्धि मानी जा सकती है कि इसमें पहली बार शिल्प के आधार पर प्रसाद के नाटकों का वर्गीकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त, भारतीय तथा पश्चिमी नाट्य-शिल्प का प्रसाद ने किस रूप में समन्वय किया है, इसका भी स्पष्ट उल्लेख इसमें किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रणयन सन् १९६९ में हुआ था। इस बीच प्रसाद-नाट्य-साहित्य पर जो शोध-कार्य हुआ है, उसे इसमें यथासम्भव समाविष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक को अधिकाधिक उपयोगी बनाने की चेष्टा की गई है।

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रणयन आदरणीय डॉ० कैलाशपति ओझा के कृपापूर्ण निर्देशन में हुआ है। अनेक बार नाट्य-शिल्प की गुत्थियों को सुलझाने में डॉ० ओझा ने जिस सहज मनोवृत्ति से मेरा मार्ग-प्रदर्शन किया है, उसके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

मैं बन्धुवर डॉ० कृष्णदेव शर्मा के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिनके प्रयत्न से इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हुआ है।

हिन्दी साहित्य संसार के प्रकाशक श्री रामकृष्ण शर्मा ने इसे सुन्दर रूप में प्रकाशित किया है, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक-रचना में जिन सुधी विद्वानों और आलोचकों की कृतियों से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में सहायता ली गई है, लेखक उनका हृदय से आभारी है।

२६/१७६ — विनीत
वैस्ट पटेलनगर — बनवारीलाल हाण्डा
नई दिल्ली

विषय-सूची

सहधर्मिणी हेम
और
आत्मज राजू को
सस्नेह

"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है और जिन पर कि वर्तमान साहित्यकारों की दृष्टि कम पड़ती है।"

—जयशंकर प्रसाद

: १ :

भारतीय दृष्टि से रूपक का स्वरूप और उसके तत्त्व

भारतवर्ष में नाट्य-सृजन की दृष्टि से एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है जो मध्ययुग मे आकर मुसलमानी आक्रमण के कारण कुछ क्षीण हो गई। हमारे यहाँ जैसे नाट्य-सृजन की परम्परा है, वैसे ही नाट्यकला के नियमों को निर्धारित करने वाले, लक्षण-ग्रंथो के निर्माता आचार्यो की भी एक सुदृढ़ शृंखला है। उपलब्ध लक्षण-ग्रंथो के आधार पर आज आद्य नाट्याचार्य भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' ही प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है।[1] भरत का 'नाट्यशास्त्र' मात्र नाट्यकला ही नही अपितु समस्त कलाओं, शिल्पों और विद्याओं का भण्डार है। इस सम्बन्ध में भरत-मुनि का कथन है कि 'न कोई ऐसा ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या है, न ऐसी कोई कला है, न कोई योग है, और न कोई कर्म है, जिसका उपयोग नाट्य में न होता हो।'[2] 'नाट्यशास्त्र' यद्यपि उपलब्ध प्राचीनतम ग्रंथ है, तथापि भरत ने अपने से पूर्ववर्ती अनेक नाट्याचार्यो का उल्लेख अपने ग्रंथ में किया है—कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्तिल।[3] किन्तु इन आचार्यो का कोई ग्रंथ उपलब्ध न होने की स्थिति मे भरत को ही आद्य नाट्याचार्य होने का श्रेय प्राप्त होता है।

नाट्यकला पर भरत के परवर्ती आचार्यों ने भी विचार-विमर्श किया है। इन आचार्यो में 'दशरूपक' के रचनाकार धनंजय, 'नाट्यदर्पण' के लेखक द्वय रामचन्द्र-गुणचन्द्र, 'भावप्रकाशनम्' के रचयिता शारदातनय मुख्य रूप से और विद्यानाथ, शिंगभूपाल, विश्वनाथ तथा सागरनन्दी इत्यादि का गौण रूप से नाम लिया जा सकता है। भरत तथा उनके परवर्ती आचार्यो में एक स्पष्ट अन्तर मिलता है। जहाँ भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्यकला पर केवल कुछ ही अध्यायों में विवेचन किया है, वहाँ उनके परवर्ती कलाविदों ने केवल नाट्यकला तक ही अपने विवेचन को सीमित रखा है और भरत के मत का या तो समर्थन किया है अथवा उनके कथन का आगे अपनी ओर से विवेचन प्रस्तुत किया है। अत: यह कहा जा सकता है कि नाट्यकला पर हमारे यहाँ संस्कृत आचार्यों ने जो कुछ भी विवेचन-विश्लेषण किया है वह मूल

---

१. आचार्य विश्वेश्वर : हिन्दी अभिनवभारती : पृ० ९

२. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : १।११६

३. आचार्य विश्वेश्वर : हिन्दी अभिनवभारती : पृ० ९

रूप से एक समान ही है। यदि विभिन्नता है भी तो वह रूपक के भेदोपभेदों अथवा संध्यंगो की संख्या तक ही सीमित है।

भारतीय दृष्टि से नाट्य की उत्पत्ति का विषय आज विवादास्पद है और उसका समग्र विवेचन प्रस्तुत करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। केवल भरत के मत को यहाँ संक्षेप मे प्रस्तुत कर, यह दिखाने का प्रयत्न किया जा रहा है कि पश्चिम की भाँति हमारे यहाँ भी नाट्य-साहित्य की उत्पत्ति धार्मिक विधि-विधानों से ही हुई है। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में 'नाट्य' की उत्पत्ति का इतिहास दिया है।[१] भरत ने नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कथा दी है, उससे निम्न तथ्य सामने आते है :

(क) नाट्य को वेद स्वरूप मानना।[२]
(ख) नाट्य को पंचम वेद कहना।
(ग) 'नाट्य' की उत्पत्ति त्रेता युग में हुई।

यहाँ इन तीनों तथ्यों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

(क) डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भरत के आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'वेद' का अर्थ है—'स्वतः प्रमाण' अर्थात् नाट्य को वेद कहने से भरत का यह कहना है कि यह अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी दूसरे का मुखापेक्षी नहीं है।[३] इसका एक अन्य कारण, जैसा कि डा० रघुवंश[४] का मत है, यह भी हो सकता है कि जिस समय 'नाट्यशास्त्र' की रचना हुई थी, उस समय 'श्रोत आपस्तम्भ' तथा 'मनुस्मृति' इत्यादि धर्म-ग्रंथों में नाट्यकला को हीन समझा जाता था। सम्भवतः नाट्यकला को उच्च स्थान दिलाने के लिए ही ऐसा किया गया हो।

(ख) जहाँ तक नाट्य को 'पंचम वेद' कहने का तात्पर्य है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'नाट्य-वेद के मुख्य अंश चारों वेदों से ही लिए गए है।'[५] ऐसा स्वीकार किया जाता है कि 'ऋग्वेद' से पाठ्य, 'सामवेद' से गीत, 'यजुर्वेद' से अभिनय और 'अथर्ववेद' से रस लेकर पाँचवें वेद—नाट्यवेद—की रचना की गई थी।[६]

(ग) 'नाट्य' के मुख्य अंग वेदों से लिए गए हैं, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका निर्माण वेदों के निर्माण के पश्चात् हुआ है।

---

१. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : १।४
२. भरत : वेदसंमित ; नाट्यवेद : नाट्यशास्त्र : १।४
३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक : पृ० २
४. डॉ० रघुवंश : नाट्यशास्त्र : पृ० ८
५. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक : पृ० २
६. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : १।१६-१७

नाट्यकला के सैद्धान्तिक विवेचन में भरत तथा उनके अनुवर्ती नाट्याचार्यों ने 'नाट्य' शब्द का प्रयोग किया है। 'नाट्य' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में मत-वैभिन्नय है। डॉ० दशरथ ओझा[1] के मतानुसार पाणिनी 'नाट्य' की उत्पत्ति 'नट्' धातु से मानते हैं। वेबर और मोनियर विलियम्स 'नट्' धातु को 'नृत्' धातु का प्राकृत रूप मानते है तथा माकण्ड 'नृत्' धातु को 'नट्' की अपेक्षा अधिक प्राचीन धातु मानते है। डॉ० ओझा का विचार है कि प्राचीन काल मे 'नट' धातु का अर्थ गात्र-विक्षेपण और अभिनय दोनो ही था किन्तु कालान्तर में 'नृत्' से अभिनय का अर्थ पृथक् होता गया और 'नृत' का प्रयोग गात्र-विक्षेपण के अर्थ में होने लगा।[2] दशरूपककार धनंजय ने 'नृत्य', 'नृत्' और 'नाट्य' का अन्तर स्पष्ट किया है। 'नृत' ताल-लय आश्रित होता है, 'नृत्य' भावाश्रित और 'नाट्य' रसाश्रित होता है।[3] इस प्रकार 'नाट्य' अन्तिम सीमा और नृत्त तथा नृत्य दो प्रथम सोपान।

भरतमुनि ने 'नाट्य' को दृश्य और श्रव्य काव्य का समन्वित रूप माना है।

'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत'[4]

अर्थात् ऐसा मनोरंजन का साधन जिसे देखा भी जा सके और सुना भी। भरत द्वारा प्रयुक्त 'क्रीडनीयक' शब्द भारतीय नाटक की मूल भावना—मनोरंजन तथा आनन्द—को प्रस्तुत करता है। पश्चिमी नाटक से हमारे यहाँ का नाटक इसी अर्थ में भिन्न है कि हमारे यहाँ 'आनन्द' की भावना प्रमुख है, वहाँ संघर्ष की। नाट्य की परिभाषा करते हुए धनंजय का कथन है :

'अवस्थानुकृतिर्नाट्यं'[5]

अर्थात् अवस्था (नायक का) को अनुकरण के द्वारा प्रस्तुत किया जाना ही 'नाट्य' है। धनंजय का यह कथन भरतमुनि के निम्न कथन पर आधारित प्रतीत होता है :

'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावनुकीर्तनम्'[6]

शिंगभूपाल[7] का भी यही कथन है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'नाट्य' में प्रधान तत्त्व 'अनुकीर्तन' है। दूसरे शब्दों में दूसरे के कार्यो का अनुकीर्तन ही नाट्य है। इस सम्बन्ध में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि 'नाटक केवल अनुकरण मात्र ही नही है, वह उससे अधिक है। उसमें मनुष्य की इच्छा, ज्ञान और कर्म-शान्ति

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्यकोश : पृ० ४०६ (भाग—१)
२. वही : पृ० ४०७
३. धनंजय : दशरूपक : १।८-९
४, भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : १।११
५. धनंजय : दशरूपक : १।७।
६. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : १।१०७
७. शिंग भूपाल :रसार्णवसुधाकर : ५७

की आवश्यकता होती है।'[1]

रूप के आरोप के कारण सभी नाट्याचार्यों ने इसे 'रूपक' कहा है। 'रूपक' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत[2] का कथन है कि 'रूपक शब्द रूप धातु मे 'णवुल' प्रत्यय जोड़ने से व्युत्पन्न हुआ है। साहित्य में यह नाट्य का वाचक माना जाता है। कहीं-कहीं, रूपक के स्थान पर केवल 'रूप' शब्द का भी प्रयोग मिलता है।' नाट्य और रूपक समान होते हुए भी सूक्ष्म अन्तर रखते है। डॉ० दशरथ ओझा[3] का इस सम्बन्ध में यह कथन है कि 'नाट्य मे अवस्थाओं की अनुकृति को प्रधानता प्रदान की जाती है, किन्तु रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का आरोप भी आवश्यक है।' दशरूपककार धनजय का कथन है :

'रूपकं तत्समारोपाद'[4]

नट में नायक (राम आदि) की अवस्था का आरोप कर लिया जाता है अतः उसे 'रूपक' भी कहा जाता है। विश्वनाथ[5] के मतानुसार 'दृश्य काव्य इसलिए रूपक कहा जाया करता है क्योंकि इसके प्रदर्शक (नट) इसमें विचित्र चरितो के 'रूप' का अपने में आरोप अर्थात् अनुसन्धान किए दिखाई दिया करते हैं।'

भरतमुनि[6] ने रूपक के दस भेद स्वीकार किए हैं : नाटक, प्रकरण, अंक, व्यायोग, भाण समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग। रूपक के इन दस प्रमुख भेदों के अतिरिक्त भरत ने नाटक और प्रकरण के बीच 'नाटिका' का भी उल्लेख किया है, परन्तु यह प्रकार स्वतन्त्र नही है।[7] धनंजय[8] ने भरत के अनुरूप ही 'रूपक' के दस भेद स्वीकार किए हैं। विश्वनाथ[9] ने भी इसकी संख्या दस ही स्वीकार की है। 'रूपक' के भेदो की संख्या को बारह स्वीकार करने वाले आचार्यों में रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाम लिया जा सकता है। इन्होने 'नाटिका' और 'प्रकरणिका' को दो स्वतन्त्र नाट्य-रूप स्वीकार किया है।[10]

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक : पृ० १३
२. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय नाट्य-साहित्य : पृ० १९
३. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश : पृ० ४०७ (भाग १)
४. धनंजय : दशरूपक : १।७
५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।१
६. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : २०।६४
७. वही
८. धनंजय : दशरूपक : १।८
९. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।३
१०. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।३-४

'रूपक' के समस्त भेदोपभेदों के स्वरूप पर प्रकाश न डालकर यहाँ 'नाटक' के स्वरूप का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। नाटक के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए भरतमुनि का कथन है कि 'नाटक किसी प्रख्यात राजर्षि के जीवन में होने वाली घटना अथवा घटनाओं का प्रदर्शन है।'[१] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ[२] ने इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। विश्वनाथ प्रस्तुत परिभाषा में दो बातों पर ध्यान जाता है—

(क) संस्कृत नाटक जीवन का केवल सुखमय चित्र ही प्रस्तुत नहीं करता अर्थात् उस पर एकागिता का आक्षेप नही लगाया जा सकता। संस्कृत नाटक में मानव का सुख-दु:खात्मक जीवन मिलता है। यही बात आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय[३] ने इन शब्दों में व्यक्त की है 'भारतीय नाटक नाट्य-शास्त्रीय विधि-विधानों का पालन करता हुआ जीवन का एकांगी चित्रण प्रस्तुत नहीं करता वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा सार्वभौम चित्रण करता है। संस्कृत के नाटको मे दु:ख का, मानवीय क्लेश तथा कमजोरियों का चित्रण होता है, परन्तु कहाँ? नाटक के आदि मे अथवा मध्य मे, पर्यवसान में नहीं।'

(ख) विश्वनाथ ने पहली बार नाटक के अंकों की न्यूनतम संख्या पाँच और अधिकतम संख्या दस निश्चित की है।

नाटक के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए रामचन्द्र-गुणचन्द्र[४] का कथन है कि 'रूपक भेदों में से धर्म, अर्थ और काम फलो वाला अंक, उपाय, दशा, सन्धि से युक्त, देवता आदि जिसमे सहायक हो इस प्रकार का पूर्वकाल के प्रसिद्ध राजाओ का चरित (प्रदर्शित करने वाला अभिनेय काव्य) नाटक कहा जाता है।'

नाटक के स्वरूप पर प्रकाश डालने के उपरांत अब हम इसके तत्त्वों पर विचार करते है। आचार्यो ने नाटक के तीन तत्त्व स्वीकार किए है : वस्तु, नेता और रस।

वस्तु-विवेचन

भरत तथा सागरनन्दी ने इतिवृत्त को काव्य का शरीर कहा है।[५] कथावस्तु वह तत्त्व है जिस पर सम्पूर्ण नाट्य-शरीर का निर्माण होता है। चरित्रों की अव-

---

१. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : १८।१०

२. विश्वनाथ : नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पंचसंधिसमन्वितम्।
विलासद्धर्यादिगुण व युक्तं नानाविभूतिभिः॥
सुखदु:खसमुद्भूति नानारसनिरन्तरम्।
पंचादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः॥ —साहित्यदर्पण : ६।७-८।

३. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय-नाट्य-साहित्य : पृ० ३६

४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।५

५. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : १६।१

धारणा तथा रस का उन्मेष तभी सम्भव होता है जबकि नाटक में कोई कथा हो। वस्तु तत्त्व का महत्त्व रस को प्रस्फुटित करने में तथा चरित्रों को बहुविध रूप में प्रस्तुत करने में है। अतः इसका अपना महत्त्व है।

नाटककार वस्तु का चयन किसी भी क्षेत्र से कर सकता है। प्राचीन नाट्याचार्यो ने यद्यपि 'प्रख्यात' कथानक पर ही बल दिया है, तथापि उन्होने अपनी दृष्टि को सीमित न रखकर नाटककार के लिए वस्तु के चयन के लिए अन्य क्षेत्रों का निषेध नही किया है। नाटककार के लिए प्राचीन नाट्याचार्यो ने तीन सम्भावित क्षेत्रो का उल्लेख किया है। दशरूपककार धनंजय का कथन है कि .

'प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात त्रेधापि तत्त्रिधा'[1]

अर्थात् प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र तीन प्रकार की वस्तु होती है। यद्यपि अधिकाश आचार्यो ने वस्तु के चयन की दृष्टि से इन्ही तीन प्रकारों को स्वीकार किया है, तथापि इस परम्परा से हटकर चलने वाले आचार्यो मे विश्वनाथ तथा सागरनन्दी का नाम उल्लेख्य है। विश्वनाथ ने 'वस्तु' के दो ही प्रकार स्वीकार किए है।[2] सागरनन्दी ने भी इसके 'उपात्त' और 'प्रतिसंस्कृत' नामक दो भेद स्वीकार किए है।[3] वह कथानक जिसे पुराणों से ग्रहण किया गया हो 'उपात्त' तथा वह कथानक जो परम्परागत कथाओं पर अवलम्बित हो, परन्तु जिसे कवि ने अपनी इच्छा से परिवर्तित कर दिया हो।

प्रख्यात—वह कथा जिसे इतिहास-पुराण से लिया गया हो, 'प्रख्यात' कहलाती है।

उत्पाद्य—कवि-कल्पित कथा 'उत्पाद्य' कहलाती है ; और

मिश्र—इतिहास-पुराण तथा कवि-कल्पित कथा का मिश्रण 'मिश्र' वस्तु कहलाती है।[4]

'वस्तु' के महत्त्व के आधार पर भी आचार्यो ने इसके दो भेद किए है : आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथा। धनंजय ने इनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है :

'तत्राधिकारिकं मुख्यङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः'[5]

प्रधान कथावस्तु को 'आधिकारिक' तथा उसकी अंगीकृत कथावस्तु को 'प्रासंगिक' कहते हैं। इसी पर आगे प्रकाश डालते हुए दशरूपककार का कथन है कि 'फल का स्वामित्व अधिकार कहलाता है और उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है।

---

१. धनंजय : दशरूपक : १।१५

२. विश्वनाथ : इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते।—साहित्यदर्पण: ६।४२

३. सागरनन्दी : नाटकलक्षणरत्नकोष : पृ० ४७-५०

४. वही : दशरूपक : १।१५

५. वही : दशरूपक : १।११

उस अधिकारी की फल पर्यन्त चलने वाली कथा को आधिकारिक कथावस्तु कहते है।'[1] इसी प्रकार प्रासंगिक कथावस्तु के सम्बन्ध मे कहा गया है कि 'आधिकारिक कथा के प्रयोजन की सिद्धि के उद्देश्य की प्रधानता के रहते हुए जहाँ अपनी भी प्रसंगवश स्वार्थसिद्धि हो जाए, ऐसी कथा को प्रासंगिक कथावस्तु कहते है।'[2]

प्रासंगिक कथावस्तु के भी आगे दो भेद किए गए है : पताका तथा प्रकरी।

पताका— जो प्रासंगिक कथा आधिकारिक कथा के साथ-साथ दूर तक चलती है वह 'पताका' कथा कहलाती है।[3]

प्रकरी—आधिकारिक कथा के साथ थोडी दूर तक चलने वाली कथा 'प्रकरी' कहलाती है। इसके नायक का अपना कोई स्वार्थ नही होता।

मंच पर प्रदर्शन की दृष्टि से भी 'वस्तु' के दो भेद किए जाते है : 'दृश्य' तथा 'सूच्य'।[4] विश्वनाथ[5] ने इसे 'दृश्य' और 'कथोपक्षेपक' तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र[6] ने इसे 'सूच्य' और 'प्रयोजन' की संज्ञा दी है।

सूच्य—धनंजय[7] तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र[8] के मतानुसार वस्तु का वह अंश जो नीरस तथा अनुचित हो उसे रंगमंच पर प्रदर्शित नही करना चाहिए, उसकी केवल सूचना देनी चाहिए। अतः सूच्य कथांश वह है जो विभिन्न उपाख्यानों से सम्बन्धित होते हुए भी नीरसता, अनौचित्य तथा विस्तार-भय से रगमंच पर प्रदर्शित नही किया जाता।

'सूच्य' कथानक को मंच पर प्रस्तुत करने के लिए धनंजय[9], विश्वनाथ[10], आदि आचार्यों ने पाँच विधियों का उल्लेख किया है : विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार तथा अंकमुख।

(क) **विष्कम्भक**—विश्वनाथ[11] ने विष्कम्भक के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'विष्कम्भक' वह अर्थोपक्षेपक हुआ करता है जो कि भूत और भावी

---

१. वही : १।१२
२. धनंजय : प्रासङ्गिक परार्थस्थ स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः : दशरूपकः १।१३
३. वही
४. धनंजय : दशरूपक. १।५६
५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।५०-५१
६. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।११
७. धनंजय : दशरूपक : १।५७
८. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।११
९. धनंजय : अर्थोपक्षेपकं सूच्यं पंचभिः प्रतिपादयेत्
विष्कम्भकचूलिकाङ्कास्याङ्कावतार प्रवेशकंः ॥— दशरूपकः १।५८
१०. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।५४
११. वही : ६।५५-५६

कथाभागों की सूचना दिया करता है और अंक की अपेक्षा कम विस्तार रखता है। इसकी योजना अंक के आरम्भ में ही की जाया करती है। विश्वनाथ ने इसके दो भेद किए हैं : शुद्ध विष्कम्भक तथा संकीर्ण विष्कम्भक।

(अ) **शुद्ध विष्कम्भक**—जिसमें मध्यम प्रकृति के एक पात्र अथवा दो पात्रों के द्वारा वृत्त अथवा वृत्तात भागों की सूचना दे दी जाया करती है।

(आ) **संकीर्ण विष्कम्भक**—इसमें नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रो द्वारा भूत और भावी अरंजक घटनाएँ सूचित की जाया करती है।

(ख) **प्रवेशक**—धनंजय[1] के शब्दों में 'इसमें भूत और भावी घटनाओं की सूचना नीच पात्रों द्वारा दी जाती है और यह दो अंकों के बीच में आता है।' साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का भी प्रायः यही कथन है। इन दोनों आचार्यों के कथनों में अन्तर केवल इतना ही है कि विश्वनाथ इसमें संस्कृत से भिन्न प्राकृतादि भाषा का प्रयोग करने की बात कहते है।[2]

(ग) **चूलिका**—चूलिका वह अर्थोपक्षेपक प्रकार है जिसमें पात्र नेपथ्य के भीतर से ही वस्तु-विशेष की सूचना दिया करते हैं।[3]

(घ) **अंकावतार**—अंकावतार का स्वरूप स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ[4] का कथन है कि 'जहाँ पिछले अंक की कथा अगले अंक में पिछले अंक के पात्रों द्वारा कही जाए वहाँ अंकावतार अर्थोपक्षेपक होता है' तथा धनंजय के अतानुसार 'यह कथा प्रवेशक और विष्कम्भक विहीन होती है।'[5]

(ङ) **अंकस्य**—अंकस्य में अंक के अन्त में आने वाले पात्र के द्वारा अगले अंक के आरम्भ में आने वाले पात्रों आदि की सूचना होती है।[6] विश्वनाथ[7] अंकमुख (अंकस्य) मे बीच तथा अर्थ (फल) दोनों की संक्षेप में सूचना होने की बात भी कहते हैं।

दृश्य अंक (वस्तु) वह समस्त घटनाएँ हैं जिन्हें रंगमंच पर अंकों के अन्तर्गत दिखाय' जाता है। धनंजय के मतानुसार ऐसी कथावस्तु को, जिसमें मधुर और उदात्त रस तथा भाव पूर्णतया भरे हों, दृश्य अंश के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है।[8]

---

१. धनंजय : दशरूपक : १।६०-६१
२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।५७
३. धनंजय : दशरूपक : १।६१ ; व विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।५८
४. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।५८
५. धनंजय : दशरूपक : १।६२
६. वही
७. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।५९
८. धनंजय : दशरूपक : १।५७

(ङ) **स्वगत-कथन**—यदि कहने वाले पात्र के अतिरिक्त अन्य कोई पात्र उसकी उक्ति न सुन सके तो वह 'अश्राव्य' अथवा 'स्वगत' कहलाती है।

(अ) **आकाश-भाषित**—दशरूपककार धनंजय के शब्दों में 'इसमें पात्र स्वयं ही किसी दूसरे के कहे-सुने प्रश्नों को दुहराता जाता है, उनके उत्तर देता जाता है।'[1]

उपर्युक्त विवेचन में कथावस्तु के महत्त्व, भेद-प्रकारों पर सविस्तर प्रकाश डाला गया है। कथावस्तु के सम्यक् विकास के लिए, सामूहिक प्रभाव की एकाग्रता के लिए, संस्कृत नाट्याचार्यों ने कथावस्तु के रचनातंत्र पर विशेष बल दिया है। इस रचनातंत्र मे कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों तथा संधियों का स्थान है।

(क) कार्य की अवस्थाएँ

कथानक के रचना तंत्र में कार्यावस्थाओं का वही स्थान है जो मनुष्य-शरीर में रीढ की हड्डी का। इसी के बल पर कथानक विकास के सोपान पार करता हुआ फल की ओर अग्रसर होता है। भरतमुनि[2], धनंजय[3] तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र[4] आदि नाट्याचार्यों के मतानुसार 'फल की इच्छा रखने वाले नायक के व्यापार (चरित्र) की अवस्थाएँ ही कार्य की अवस्थाएँ हैं।' आचार्य धनजय[5] ने इनकी संख्या पाँच स्वीकार की है : आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

यहाँ संक्षेप में इनके स्वरूप पर प्रकाश डाला जाता है।

(अ) **आरम्भ**—नायक द्वारा जहाँ फल-प्राप्ति के लिए उत्सुकता दिखाई जाए वही अवस्था 'आरम्भ' कहलाती है। धनंजय ने लिखा भी है :

'औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे'[6]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र[7] ने भी इसमे 'औत्सुक्य' माना है।

(आ) **प्रयत्न**—'नाट्यदर्पण' के लेखकों के मतानुसार 'मुख्य फल की प्राप्ति के उपायों को लागू करने में शीघ्रता अर्थात् इस उपाय के बिना यह फल सिद्ध नहीं हो सकता, इस प्रकार के निश्चय के कारण अत्यन्त उत्सुकता, प्रकर्षण यत्न 'प्रयत्न' कहलाता है।'[8] धनंजय[9] ने भी इसमें फल-प्राप्ति के लिए किए गए उपायों की चर्चा

---

१. वही : १।६७
२. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र २१।७
३ धनंजय : दशरूपक : १।१९
४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।३४
५. धनंजय : अवस्था पन्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलर्थिभि:
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्ति फलागमाः ।। – दशरूपकः १।१९
६. वही : १।२०
७. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पणः १।३४
८. वही : १।३५
९. धनंजयः दशरूपक : १।२०

की है। आचार्यों के मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि फल की प्राप्ति के लिए किए गए उपाय, चेष्टाएँ इत्यादि 'प्रयत्न' अवस्था कहलाती हैं।

(इ) **प्राप्त्याशा**—कार्य की वह अवस्था, जिसमे विघ्न की सम्भावना से फल की प्राप्ति अनिश्चित रहती है, 'प्राप्त्याशा' कहलाती है।[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने विवेचन में विघ्न की सम्भावना की बात नही कही है। उनका मत धनंजय के मत के अनुरूप होता हुआ भी थोड़ा-सा भिन्न प्रतीत होता है .

'फल सम्भावना किञ्चित प्राप्त्याशा हेतुमात्रत:'[2]

अर्थात् फल की प्राप्ति की थोडी-सी सम्भावना न कि निश्चय होना दूसरे शब्दों में प्रधान फल की प्राप्ति की आशा होने से 'प्राप्त्याशा' कहलाती है।

धनंजय और रामचन्द्र-गुणचन्द्र दोनों ही आचार्यो ने फल-प्राप्ति की 'सम्भावना' की वात कही है, 'निश्चय' की नही। अत: धनंजय ने जिस अप्रत्याशित विघ्न की चर्चा की है वह इसे 'नियताप्ति' कार्यावस्था से पृथक् भी करती है। वास्तव में इस अवस्था में आशा-निराशा दोनों ही होती है और नाट्यकला की दृष्टि से यह अन्य अवस्थाओं से इसी कारण अधिक आकर्षक तथा सजीव होती है।

(ई) **नियताप्ति**—कार्य की वह अवस्था जिसमें सभी विघ्न समाप्त हो जाते है, दूसरे शब्दों मे जहाँ सभी विरोध, समस्त द्वन्द्व शान्त हो जाते है तथा जहाँ फल की प्राप्ति निश्चित रहती है, 'नियताप्ति' कहलाती है।[3] रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मतानुसार :

'नियताप्तिरूपायानां साफल्यात् कार्यनिर्णय:'[4]

अर्थात् उपायों के सफल हो जाने से कार्य की प्राप्ति का निर्णय 'नियताप्ति' कहलाता है। नियताप्ति अवस्था कार्य के अवसान से पूर्व का सोपान है। यहाँ आकर एक 'समतल' बिन्दु की स्थापना हो जाती है। नाटक मे यह शान्ति की स्थिति का द्योतक है।

(उ) **फलागम**—धनंजय के अनुसार 'कार्य में सफलता के साथ-साथ अन्य समस्त वांछित फलों की प्राप्ति को 'फलागम' कहते है।'[5] रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मत अधिक स्पष्ट है। वे लिखते है :

'साक्षादिष्टार्थ सम्भूति-र्नायकस्य फलागम:'[6]

अर्थात् नायक को साक्षात् इष्ट अर्थ की प्राप्ति 'फलागम' अवस्था कहलाती है।

---

१. धनंजय : दशरूपक : १।२१
२. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।३५
३. धनंजय : दशरूपक : १।२१
४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।३६
५. धनंजय : दशरूपक : १।२२
६. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।३६

फलागम अवस्था नाटक में निर्णय की स्थिति है। सम्पूर्ण कार्य-व्यापार अपने चरम बिन्दु को प्राप्त करने के उपरांत जैसे एक 'फ्रीजिंग पोव्यंट' पर आकर रुक जाता है।

कार्यावस्थाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह नायक के चरित्र का ही क्रमिक विकास-सोपान है जो समतल से प्रारम्भ होकर अनेक उतार-चढ़ाव पार करता हुआ, पुनः समतल की स्थिति पर आ जाता है।

(ख) अर्थ-प्रकृतियाँ

कार्यावस्थाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कार्य का विकास वस्तुतः नायक के चरित्र का ही उत्तरोत्तर विकास है। नायक के चरित्र-विकास को नाटकीय बनाने के लिए अर्थ-प्रकृतियों की योजना की जाती है।[१] इनके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए धनिक ने इन्हें 'प्रयोजन-सिद्ध का हेतु-रूप स्वीकार किया है।'[२] धनिक के अनुरूप ही साहित्यदर्पणकार ने भी इसे 'प्रयोजनसिद्धहेतवः'[३] माना है। अर्थ-प्रकृतियों के विवेचन में रामचन्द्र-गुणचन्द्र[४] का मत तर्कसगत तथा विस्तृत है। जहाँ तक इनकी संख्या और नामों का सम्बन्ध है, वह भरत, धनंजय, विश्वनाथ इत्यादि आचार्यों के मतों के अनुरूप है। अर्थ-प्रकृति के सम्बन्ध में इनकी मान्यता इस प्रकार है : 'अर्थ' शब्द से पूरा नाटकार्थ और 'प्रकृति' से 'प्रकार' या 'उपाय'। अत. इनके मतानुसार अर्थ-प्रकृतियाँ 'फल' अर्थात् नाटक के मुख्य साध्य के 'हेतु' 'उपाय' कहलाते है। इन्होने इन उपायों को चेतन और अचेतन दो रूपो में विभक्त किया है। अचेतन हेतुओं के भी आगे दो भेद किए गए हैं—मुख्य और अमुख्य। अचेतन हेतुओं मे 'बीज' और 'कार्य' तथा चेतन हेतुओं में 'बिन्दु', 'पताका' और 'प्रकरी' आते हैं।[५]

अर्थ-प्रकृतियो के उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें कार्य के प्रयोजन का हेतु रूप ही स्वीकार किया गया है, परन्तु डॉ० बच्चनसिंह[६] ने इस

१. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय-नाट्य-साहित्य : पृ० ५५

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : भारतीय नाट्य-शास्त्र की परम्परा और दशरूपक : पृ० ३८-३९

३. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : पृ० १८२ ('विमला' टीका)

४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र :

बीजं पताका प्रकरी बिन्दु : कार्य यथारुचि।
फलस्य हेतवः पन्च चेतना चेतनात्मका :।।

नाट्यदर्पण: १।२८

५. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।२९ तथा
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक : पृ० ३९

६. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश : पृ० ६२

सम्बन्ध में उन विद्वानों की एक आपत्ति का उल्लेख किया है जो यह कहते है कि कार्य तो अपने आप में प्रयोजन है, फिर इसे प्रयोजन-सिद्धि का हेतु-रूप कैसे स्वीकार किया जाए ? इसका उत्तर देते हुए डॉ० बच्चनसिंह का कथन है कि 'वास्तव में कार्य ही प्रयोजन है। लेकिन यह स्थूल कार्य स्वयं किसी सूक्ष्म कार्य को इंगित करता है। इसीलिए रंगमच पर घटित होने वाले कार्य मे किसी और प्रयोजन की सिद्धि का हेतु निहित रहता है।'

नाट्याचार्यों ने अर्थ-प्रकृतियों की संख्या पाँच निर्धारित की है : बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। यहाँ इनके स्वरूप पर प्रकाश डाला जाता है।

(अ) **बीज** : बीज के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए धनंजय का कथन है :

'स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा'[1]

अर्थात् कार्य (मुख्य फल) के साधक हेतु विशेष को बीज कहते हैं। इसका पहले सूक्ष्म कथन होते हुए भी आगे चल कर अनेक प्रकार का विस्तार युक्त रूप दिखाई देता है। धनंजय के अनुरूप ही रामचन्द्र-गुणचन्द्र का भी यही मत उपलब्ध होता है।[2]

जिस प्रकार 'बीज' अपने में वृक्ष धारण करने की क्षमता रखता है, उसी प्रकार प्रारम्भ में स्वल्प संकेतित हेतु का आगे चलकर अत्यन्त विस्तार होता है। अतः यह हेतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(आ) **बिन्दु** : अवान्तर कथा की समाप्ति के अवसर पर प्रधान कथा के साथ सम्बन्ध-विच्छेद न होने देने वाली वस्तु को 'बिन्दु' कहते हैं[3] रामचन्द्र-गुणचन्द्र का भी यही मत है :

'हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं बहूनां बिन्दुराफलात्'[4]

आचार्यों का यही अभिप्रायः प्रतीत होता है कि 'बिन्दु' सम्पूर्ण कथा का संयोजक तत्त्व है। जहाँ भी मुख्य कथा का अवान्तर कथा से पृथक् होने लगती है, वहीं 'बिन्दु' उनमें सम्बन्ध-स्थापन कर देता है।

(इ) **पताका**, इसका विवेचन 'कथानक-भेद' के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका है।

(ई) **प्रकरी** : इसका विवेचन भी पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है।

(उ) **कार्य** : यह रूपक का अन्तिम साध्य अथवा प्रयोजन है जिसके लिए सम्पूर्ण उपकरण एकत्रित किए जाते है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शब्दों में :

'साध्ये बीज सहकारी कार्यम्'[5]

---

१. धनंजय : दशरूपक : १।१७
२. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।२९
३. धनंजय : दशरूपक : १।१७
४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।३२
५. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।३३

अर्थात् प्रधान फल की सिद्धि में बीज का सहकारी 'कार्य' कहलाता है।

अर्थ-प्रकृतियों के प्रसंग की परिसमाप्ति से पूर्व रामचन्द्र-गुणचन्द्र तथा विश्वनाथ का यह मत भी उल्लेखनीय है कि वे इन पाँचों अर्थ-प्रकृतियों का प्रत्येक नाट्य-कृति में अनिवार्य रूप से विन्यस्त होना स्वीकार नही करते। उनका विचार है कि अर्थ-प्रकृतियों का प्रयोग व्यवहार रूप मे उसी प्रकार नहीं होता जिस रूप मे शास्त्र में उन्हें गिनाया गया है। अतः इनका प्रयोग आवश्यकतानुसार ही किया जाना चाहिए।[1]

(ग) सन्धियाँ

कथानक के रचनातंत्र में कार्यावस्थाओं तथा अर्थ-प्रकृतियों का जब समावेश हो जाता है तब इन दोनों के संयोग से 'सन्धि' की उत्पत्ति होती है। अतः इन दोनों के अध्ययन के पश्चात् अब सन्धियों के स्वरूप पर प्रकाश डाला जाता है।

सन्धियों का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में इतिवृत्त को काव्य का शरीर और सन्धियों को उसके पाँच विभाग माना है।[2] नाट्य में सन्धियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने में दशरूपककार धनंजय, धनिक और अभिनवगुप्त का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने इसे नाट्य-सृष्टि के नियामक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया।[3]

'सन्धि' शब्द में दो वस्तुओं का सम्बन्ध लक्षित होता है। वे दो वस्तुएँ कौन-सी है? इनको स्पष्ट करते हुए धनंजय ने लिखा है कि एक प्रयोजन से अन्वित कथा का दूसरे प्रयोजन से सम्बन्धित हो जाने को संधि कहते है।[4] सन्धियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे धनंजय का कथन है कि पाँच अर्थ-प्रकृतियो और कार्य की पाँच अवस्थाओं के क्रमशः एक-दूसरे से मिलने पर पाँच सन्धियों की उत्पत्ति होती है।[5]

---

१. वही। तथा
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : भारतीय नाट्य-शास्त्र की परम्परा और दशरूपक : पृ० ३६ तथा
विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।६४

२. भरतमुनि : इतिवृत्तं हि नाट्यस्य शरीरं परिकीर्तितम्
पञ्चभिः संधिभियस्य विभागः परिकल्प्यते ॥—ना० शा० : १६।१

३. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय-नाट्य-साहित्य : पृ० ४५

४. धनंजय : दशरूपक : १।२३

५. धनंजय
अर्थप्रकृतयः पन्च पन्चावस्थासमन्विता।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाया पन्चसंधयः ॥
—दशरूपक : १।२२-२३

धनंजय के 'यथासंख्य' शब्द पर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी[1] ने आपत्ति उठाई है। उनका कथन है कि अर्थ-प्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ 'यथारूप' गठबन्धन ठीक नही बैठता तथा भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे सन्धियो को अवस्था का अनुगामी स्वीकार किया गया है, अर्थ-प्रकृतियों से उनका सम्बन्ध नहीं है। डॉ० द्विवेदी का मत रामचन्द्र-गुणचन्द्र[2] के इस कथन पर आधारित प्रतीत होता है जिसमे उन्होने संधियों को अवस्थाओ का अनुगमन करने वाला कथा के पॉच भाग कहा है। परन्तु इसके विपरीत विश्वनाथ का सन्धि-विवेचन धनंजय के अनुरूप ही है। इन्होंने सन्धियों की उत्पत्ति 'यथासंख्य' आधार पर ही स्वीकार की है।[3] यद्यपि व्यवहार में सन्धियों की उत्पत्ति 'यथासंख्य' आधार पर स्वीकार नही की जा सकती, तथापि शास्त्रीय दृष्टि 'यथासंख्य' के पक्ष में ही अधिक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आचार्यो ने पाँच सन्धियों को स्वीकार किया है—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण सन्धि। यहाँ इन सभी प्रकारों पर निम्न पंक्तियों में प्रकाश डाला जाता है।

(अ) **मुख सन्धि**—यह सन्धि 'बीज' अर्थ-प्रकृति और 'आरम्भ' अवस्था के संयोग से उत्पन्न होती है। इसमें अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसों को प्रकट करने वाले बीज की उत्पत्ति होती है।[4] इसके बारह अंग होते है। आचार्य विश्वनाथ[5] और रामचन्द्र-गुणचन्द्र[6] का भी यही मत है। आचार्यो के मत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसमें नाना प्रकार के अर्थो और रसों को उत्पन्न करने वाले

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक : पृ० ४२

२. रामचन्द्र-गुणचन्द्र :

मुखं प्रतिमुखं गर्भाऽऽमर्श—निवर्हगान्यमी।
सन्धयौ मुख्य वृत्तांशाः पन्चावस्थानुगाः क्रमात्॥
—नाट्यदर्पण : १।३७

३. विश्वनाथ :

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पन्चाभिः।
पन्चधैवेतिवृतस्य भागाः स्युः पन्च संधयः॥
—साहित्यदर्पणः ६।७४

४. धनंजय : मुखं बीजसमुत्पत्तिन नार्थरसम्भवा : दशरूपक. १।२४

५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।७६-७७

६. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : मुखं प्रधानवृत्तांशो बीजोत्पत्ति—रसाश्रय नाट्य-दर्पण : १।३

बीज की उत्पत्ति होती है।

(आ) **प्रतिमुख सन्धि**— मुखसन्धि में नाना रसों को उत्पन्न करने वाले बीज की उत्पत्ति होती है। इसके आगे प्रतिमुख सन्धि मे उस बीज का किंचित लक्ष्य और किंचित अलक्ष्य रूप में उद्‌भेद होता है।[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र का भी यही कथन है। उनके मतानुसार प्रतिमुख सन्धि में बीज का उद्‌घाटन होता है, अर्थात् वह प्रयत्न अवस्था में व्याप्त तथा मुख के आगे विद्यमान होने से प्रतिमुख सन्धि कहलाता है।[2]

प्रतिमुख सन्धि 'बिन्दु' अर्थ-प्रकृति और 'प्रयत्न' अवस्था के योग से उत्पन्न होती है। इसमें मुख सन्धि मे निवेशित फल प्रधान उपाय का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रूप में विकास होता है।[3] इसके तेरह अंग माने जाते हैं।

(इ) **गर्भ सन्धि**—परम्परा के अनुसार गर्भ सन्धि की उत्पत्ति 'पताका' अर्थ-प्रकृति और 'प्राप्त्याशा' अवस्था के संयोग से होती है। परन्तु धनंजय का इस सम्बन्ध में यह कथन है कि और सन्धियों के लिए तो पूर्व नियम ठीक लागू होता है, परन्तु गर्भ सन्धि में कुछ विशेषता रहती है। वह विशेषता यह है कि इसमे प्राप्त्याशा अवस्था का रहना तो आवश्यक है, किन्तु 'पताका' नामक अर्थ-प्रकृति का रहना उतना आवश्यक नही है। यह रह भी सकती है और नही भी। धनजय ने इस सन्धि के सम्बन्ध में जिस विशेषता की चर्चा की है, उसके लिए उन्होंने किसी विशेष कारण तथा आधार नही दिया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है:

'बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लाभालाभगवेषणै'।[4]

अर्थात् मुख्य फल के लाभ और अलाभ के अनुसन्धान के द्वारा बीज का फलोन्मुखता से युक्त कथा भाग 'गर्भ' सन्धि कहलाता है। साहित्यदर्पणकार ने भी इस सन्धि में पूर्व सन्धियो में कुछ-कुछ प्रकट हुए फलप्रधान उपाय का ह्रास और अन्वेषण युक्त विकास देखा है। 'फल' को भीतर रखने के कारण उन्होंने इसे 'गर्भ' की संज्ञा दी है।[5]

समस्त सन्धियो मे गर्भ सन्धि ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सन्धि मानी गई है। इस सन्धि का सफलतापूर्वक नियोजन वास्तव में नाट्यकार के शिल्प की अपेक्षा करता है। इस सन्धि में कभी तो विघ्न के कारण, ऐसा प्रतीत होता है कि कार्य सफल नही हो पाएगा, पुनः विघ्नों के हट जाने से कार्य की सफलता दिखाई देती है, किन्तु फिर विघ्न के आ जाने से कार्य-सिद्धि मे सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार इस सन्धि में आशा-निराशा, प्रकाश-अन्धकार के सघर्ष की व्यापार-शृंखला चलती रहती है। अतः इस सन्धि की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है : अनिश्चितता।

---

१. धनंजय : दशरूपक : १।३०
२. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्य-दर्पण : १।३८
३. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।७७-७८
४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्य-दर्पण : १।३९
५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।७८-७९

(ई) **अवमर्श-सन्धि**—इस सन्धि मे 'नियताप्ति' अवस्था और 'प्रकरी' अर्थ-प्रकृति का योग होता है। धनंजय के शब्दों में 'क्रोध, व्यसन, विलोभन आदि द्वारा गर्भ सन्धि मे पड़ा हुआ बीज फल की ओर अग्रसर होता हुआ जब अधिक विस्तृत होता है तो उसे 'अवमर्श' सन्धि कहते है।'[1] रामचन्द्र-गुणचन्द्र के विवेचन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे इस सन्धि मे पूर्ण होते हुए साध्य मे विघ्न का आना मानते हैं।[2] यही मत साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का है।[3]

अवमर्श सन्धि मे 'नियताप्ति' कार्यावस्था है जिसमे सभी विघ्न समाप्त हो जाते है, किन्तु धनंजय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र तथा विश्वनाथ इत्यादि ने शाप आदि के कारण इसमें विघ्न की स्थिति को भी माना है जो क्रोध, व्यसन तथा लोभ आदि के कारण उत्पन्न होती है। इसके भी तेरह अंग होते है।

(उ) **निर्वहण-सन्धि**—रामचन्द्र-गुणचन्द्र के मतानुसार जहाँ कार्यावस्थाएं, मुखसन्धि आदि नाना प्रकार के भाव मुख्य फल से युक्त होते है वहाँ निर्वहण सन्धि होती है।[4] धनंजय के शब्दों में मुख आदि पूर्वकथित चारो सन्धियों मे यत्र-तत्र बिखरे हुए अर्थो का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए एकत्रीकरण निर्वहण सन्धि कहलाता है।[5] इसमें 'फलागम' अवस्था और 'कार्य' अर्थ-प्रकृति का योग होता है। इसके चौदह अंग होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर समस्त सन्धियों के ६ अंग होते है जिन्हें 'सन्ध्यंग' कहा जाता है।

पात्र (चरित्र) विवेचन

संस्कृत नाट्यशास्त्र में 'वस्तु' के उपरान्त पात्र-विवेचन उपलब्ध होता है। पात्रों के महत्त्वपूर्ण स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' मे लिखा है कि नाटक के पात्र समाज का परिदृश्य तथा उस भूभाग की सामाजिक अवस्थाओं को प्रस्तुत करते हैं जिससे वे सम्बद्ध है। पात्रों की जीवन्त रूप-रेखा मानव-इतिहास की गाथाओं के लिए अनुक्रमणिका का कार्य करती है।[6]

संस्कृत नाट्याचार्यो ने कथावस्तु के पश्चात् 'नेता' (नायक) को दूसरे तत्त्व

---

१. धनंजय : दशरूपक : १।४३

२. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्य-दर्पण : १।३९

३. विश्वनाथ :

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नौऽगर्भतौ धिकः।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतः॥

—साहित्यदर्पण : ६।७९-८०

४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्य-दर्पण : १।४०

५. धनंजय : दशरूपक : १।४८

६. डॉ० एस० एन० शास्त्री : दि लाज़ एण्ड प्रेक्टिस आफ़ संस्कृत ड्रामा : पृ० २०३

के रूप में स्वीकार किया गया है। भरत ने, जैसा कि ऊपर कहा गया है, 'नेता' को नाटक में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया और उसे नाटक का प्रधान पात्र स्वीकार किया। 'नेता' शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी[1] का कथन है कि 'नाट्-शास्त्र' में नेता या नायक शब्द दो अर्थों मे व्यवहृत हुआ है :

(क) नाटक के मुख्य पात्र के अर्थ में तथा;

(ख) सामान्य रूप मे पात्रों के अर्थ में।

डॉ० द्विवेदी का मत है कि नाट्य-परम्परा मे पहला अर्थ ही मुख्य है और उसे ही स्वीकार किया गया है। अतः 'नेता' से हमारा अभिप्राय 'नायक' से ही है।

नायक

नायक के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए धनंजय[2] का कथन है कि नाटक का जो 'फल' है वही अधिकार है और उस फल को प्राप्त करने वाला पात्र 'अधिकारी पात्र' कहलाता है। इसी को नायक, नेता इत्यादि कहा जाता है। सागरनन्दी के शब्दों में :

'नायक इति बीजबिन्द्वादिसंवलितस्य नाटकस्य
नाट्यमन्तं नयतीति नायकः[3]

—नेता नायक इसलिए कहा जाता है क्योंकि सम्पूर्ण कार्य-व्यापार उसके लाभ के लिए संचित होता है। विश्वनाथ[4] ने नायक को सम्पूर्ण कार्य-व्यापार की आत्मा तथा मुख्य रस का आलम्बन स्वीकार किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शब्दों में :

'प्रधानफलसम्पन्नोऽऽव्यसनी मुख्य नायकः'[5]

प्रधान फल को प्राप्त करने वाला, व्यसन से रहित 'मुख्य नायक' कहलाता है। इन्होंने नायक के स्थान पर 'मुख्य नायक' इसलिए लिखा है, क्योकि इनके विवेचन में 'अणु नायक' को भी स्थान मिला है।

नायक के उपर्युक्त उल्लेख से यह स्पष्ट है कि नाटक का प्रधान पात्र, जिसके निमित्त समस्त कार्य किए जाते हैं, जो मुख्य रस का आश्रय है, फल का भोक्ता है, नायक कहलाता है।

नायक के सामान्य गुण

प्रायः सभी नाट्याचार्यो ने नायक के गुणों का समान रूप से ही उल्लेख किया

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : भा० ना० शा० की परम्परा और दशरूपक : पृ० ४७
२. धनंजय : दशरूपक : १।१२
३. सागरनन्दी : नाटकलक्षण रत्नकोष : पंक्तियाँ २५७-५८
४. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।२९
५. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्य-दर्पण : ४।१६०

है। कहीं-कहीं किसी आचार्य ने किसी विशिष्ट गुण का भी उल्लेख किया है। सामान्य रूप से नायक को विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढ़-वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान, स्मृति-सम्पन्न, दृढ़, तेजस्वी, धार्मिक, उदार, लालित्ययुक्त, कृतज्ञ आदि माना गया है।[१]

इन सामान्य गुणों के अतिरिक्त अभिनव कालिदास[२] ने 'पवित्रता', शिंग-भूपाल[३] ने 'करुण-स्वभाव' तथा विश्वनाथ[४] ने 'लक्ष्मीवान् लोगों के अनुराग का पात्र' होना भी माना है।

नायक-भेद

सम्पूर्ण नाट्यकला-विवेचन में भरतमुनि से लेकर सागरनन्दी तक आचार्यो ने नायक के चार प्रकार ही स्वीकार किए हैं: धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत तथा धीरप्रशान्त।[५]

इससे पूर्व कि यहाँ इन चारों प्रकार के नायकों के स्वरूप पर प्रकाश डाला जाए, नाटक मे देवताओं के नायकत्व सम्बन्धी रामचन्द्र-गुणचन्द्र की मान्यताओं को यहाँ प्रस्तुत करना आवश्यक समझा गया है।

पात्रों के सम्बन्ध में रामचन्द्र-गुणचन्द्र[६] ने दो बातें कही हैं:

(क) नाटक में देवताओं के नायकत्व का खण्डन, तथा

(ख) नायक का चरित्रांकन केवल उत्तम तथा मध्यम दो रूपों में करना।

(क) जहाँ तक नाटक में देवताओं के नायकत्व के खण्डन का प्रश्न है, उसके उत्तर में उनका कथन है कि 'देवताओं' के लिए तो अत्यन्त कठिन कार्य की सिद्धि

---

१. धनंजय : दशरूपक: २।१-२
रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : ४।१६६
विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।३०
सागरनन्दी : नाटक लक्षण रत्नकोष : पंक्तियाँ १३६५-६६

२. डॉ० एस० एन० शास्त्री : दि लाज़ एण्ड प्रेक्टिस ऑफ़ संस्कृत ड्रामा, पृ० २०४

३. वही : पृ० वही

४. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।३०

५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।३०
धनजय : दशरूपक : २।३
रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्य-दर्पण : १।६
सागरनन्दी : नाटक लक्षण रत्नकोष : पंक्तियाँ २६१-६२

६. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : १।५

भी उनकी इच्छा मात्र से ही हो जाती है। इसलिए उनके चरित के अनुसार आचरण सम्भव न होने से वह मनुष्यों के लिए उपदेशप्रद नहीं हो सकता।'

(ख) ग्रंथकारों का यह मन्तव्य प्रतीत होता है कि चारों प्रकार के नायकों को केवल उत्तम तथा मध्यम दो रूपों मे ही वर्णित करना चाहिए, अधम रूप में नहीं। अपनी इस मान्यता के लिए रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने किसी आधार-विशेष को नहीं दिया है।

(अ) **धीरोदात्त नायक**—चारों प्रकार के नायकों में से धीरोदात्त नायक का अपने विशिष्ट गुणों के कारण शीर्षस्थ स्थान है। दशरूपककार धनंजय[1] ने इसका लक्षण देते हुए लिखा है कि 'धीरोदात्त नायक महापराक्रमशाली, अत्यन्त गम्भीर, क्षमावान्, अपनी प्रशंसा स्वयं न करने वाला, स्थिर अव्यक्त अहंकार वाला, दृढ़व्रती आदि गुणों से युक्त होता है। विश्वनाथ[2] ने भी इसके चरित्र में इसी प्रकार के गुणों का होना माना है। सागरनन्दी के मतानुसार सेनापति तथा अमात्य आदि धीरोदात्त नायक होते है।[3]

(आ) **धीरोद्धत्त नायक**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसका स्वभाव 'उद्यत' होता है। इसके चरित्र पर प्रकाश डालते हुए विश्वनाथ[4] ने इसके चरित्र में माया-पटुता, उग्र स्वभाव, अस्थिर-प्रकृति, अहंकार, दर्प तथा आत्म श्लाघा को माना है। 'धनंजय'[5] के मतानुसार इसके चरित्र में मात्सर्य की प्रचुरता रहती है। यह माया और छद्म में रत रहता है। अहंकारी, चंचल, क्रोधी तथा अपनी प्रशंसा करने वाला होता है।

(इ) **धीरललित नायक**—साहित्यदर्पणकार ने इसके स्वरूप पर निम्न शब्दों में प्रकाश डाला है :

'निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्'[6]

—अर्थात् निश्चित, अति कोमल स्वभाव वाला, सदा नृत्य-गीतादि कलाओं में युक्त रहने वाला नायक धीरललित कहलाता है। धनंजय का भी यही कथन है।

---

१. धनंजय : महासत्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः
स्थिरो निगूढ़ाहंकारो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः
—दशरूपकः २।४-५

२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पणः ३।३२।

३. सागरनन्दी : नाटक लक्षण रत्नकोष : पंक्ति २६३

४. विश्वनाथ : मायापरः प्रचण्डश्चपलोहङ्कारदर्पभूयिष्ठः
आत्मश्लाघानिरतो धीरे धीरोद्धत कथितः ।।
—साहित्यदर्पण : ३।३३

५. धनंजय : दशरूपक : २।४

६. विश्वनाथ : साहित्यदर्पणः ३।३४

सागरनन्दी[1] ने 'नृपति' को धीरललित नायक स्वीकार किया है।

(ई) **धीर प्रशान्त नायक**—धीरप्रशान्त नायक सामान्य गुणों से युक्त ब्राह्मण, मन्त्री, वैश्य आदि होता है।[2] विश्वनाथ के मतानुसार जिसमें नायक के त्याग आदि सामान्य गुण प्रचुर मात्रा में हों और जो ब्राह्मण वर्ग का हो, उसे धीर प्रशान्त नायक कहते हैं।[3]

नायक के सहायक

(क) **पीठमर्द**—नायक के सहायकों मे सर्वप्रथम धनंजय[4] ने पीठमर्द का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार 'पीठमर्द प्रधान नायक का अनुचर, उसका भक्त तथा उससे कुछ ही कम गुण वाला होता है।' विश्वनाथ[5] के शब्दो में 'जहाँ नायक का प्रासंगिक इतिवृत्त दूर तक चला जाता है वहाँ उसका एक सहायक भी चित्रित किया जाता है जो कि नायक की अपेक्षा न्यून गुण का हुआ करता है। इस नायक को 'पीठमर्द' कहा जाता है।'

(ख) नायक के अन्य सहायकों में विदूषक, विट, चेट तथा शकार आदि आते हैं। विदूषक तो प्रायः प्रत्येक प्रकार के नायक का सहायक हुआ करता है। किन्तु विट, चेट, शकार इत्यादि नायक भेद से सहायक हुआ करते हैं। 'विश्वनाथ' ने धर्म, अर्थ और काम फल के आधार पर नायक के सहायकों का उल्लेख किया है।

विदूषक—रामचन्द्र-गुणचन्द्र[6] के कथनानुसार विदूषक का कार्य हास्य उत्पन्न करना होता है। वह यह कार्य तीन प्रकार से करता है: अंग-विक्षेप, वेश-भूषा तथा वचन-वक्रता।

विट तथा शकार—राजा का नीच जातीय साला शकार कहलाता है तथा राजा की किसी एक बात को जानने वाला नीच जातीय पात्र विट कहलाता है।[7] अन्य सहायक पात्रों में मन्त्री, पुरोहित, तपस्वी, दूत-दूतियाँ, हिजड़े तथा बौने होते हैं।

नायक के विरोधी

(अ) **प्रतिनायक**—नाटक में नायक के विरोध में रहने वाला पात्र 'प्रतिनायक' कहलाता है। इसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य धनंजय लिखते हैं:

---

१. सागरनन्दी : नाटक लक्षण रत्नकोष : पंक्ति २६२
२. धनंजय : दशरूपक : २।४
३. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।३४
४. धनंजय : दशरूपक : २।८
५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।३९
६. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्य-दर्पण : ४।१६७
७. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्य-दर्पण : ४।१६७

'लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः'[1]

यह लुब्ध, धीरोद्धत, स्तब्ध, पापी, व्यसनी और नायक का शत्रु हुआ करता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र[2] का भी कथन है। प्रतिनायक के सहायकों में भी प्रायः वे ही सहायक होते हैं, जो नायक के सहायकों में।

नायिका-विवेचन

'काव्यशास्त्र' में नायिका-भेद-विवेचन विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है, परन्तु नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में वह उस रूप मे उपलब्ध नहीं होता। इसके साथ ही व्यावहारिक रूप मे नाट्यकारों का ध्यान नायिकाओं के सृजन में शास्त्रीय नियमों की अपेक्षा उसके स्वाभाविक चरित्रांकन की ओर गया है। अतः प्रस्तुत विवेचन में शास्त्र-प्रतिपादित नायिका-विवेचन नहीं दिया गया है। यहाँ अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इसकी ओर संकेत ही किया गया है।

नाटक की वह प्रधान स्त्री-पात्र जो नायक से सम्बद्ध है, चाहे वह नाटक में नायक से विवाहित है अथवा नहीं, नायिका कहलाती है। सामान्य रूप से नायिका का अर्थ है 'नायक' की पत्नी अथवा प्रिया।

नायिका-भेद

आचार्य धनंजय[3] ने नायिका के तीन प्रकार स्वीकार किए हैं—स्वीया, परकीया और सामान्या। स्वीया नायिका नायक की अपनी प्रिया (पत्नी) नायिका होती है; परकीया दूसरे की तथा सामान्या सर्वसाधारण की उपभोग्या वेश्यादि होती हैं। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र[4] ने कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया और वेश्या—चार प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है। विश्वनाथ[5] ने धनंजय के अनुरूप नायिका के तीन भेद ही स्वीकार किए हैं।

नायिका की सहायिकाएँ

दशरूपककार[6] के मतानुसार नायिका की सहायिकाओं में दासियाँ, नौकरानियाँ, पड़ौसिनें, भिक्षुणियाँ, चित्रकार स्त्रियाँ आदि होती हैं। ये नायक के सहायक मित्रों के समान ही गुण वाली होती हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र[7] ने इनके चरित्र को अहंकाररहित और चपलतारहित माना है।

---

१. धनंजय : दशरूपक : २।९
२. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : ४।१६६
३. धनंजय : दशरूपक : २।१५
४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : ४।१७२
५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।५६
६. धनंजय : दशरूपक : २।२९
७. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : ४।१९१

रस-विवेचन

वस्तु और नेता-विवेचन के उपरान्त नाटक के अन्तिम तत्त्व 'रस' पर विचार किया जाता है। भरतमुनि, धनंजय तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र आदि आचार्यों ने 'रस' को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है। भरतमुनि के अनुसार नाट्य की परिणति रस ही है तथा उसके बिना कोई अर्थ प्रवर्तित नहीं हो सकता :

'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'[१]

भरतमुनि के ही अनुरूप धनंजय ने भी 'रस' को ही महत्त्व दिया है :

'आनन्दनिस्पन्दिषु रूपकेषु'[२]

रामचन्द्र-गुणचन्द्र[3] ने भी इसी प्रकार लिखा है कि 'काव्य में शब्द तथा अर्थ की कल्पना उतनी प्रशंसनीय नही होती जितनी रस की स्थिति। जैसे पक जाने के कारण सुन्दर लगने वाला आम का फल भी रस-रहित होने पर बुरा लगता है। प्राचीन संस्कृत नाट्याचार्यों के अतिरिक्त आधुनिक नाटककारों तथा नाट्याचार्यों ने भी नाटक में रस के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह से नाटकों से रस की।'[४] इस सम्बन्ध में आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने यह सत्य ही कहा है कि 'भारतीय नाटककार का चरम लक्ष्य दर्शकों के हृदय में रस का उन्मेष, रस का उन्मीलन करना होता है।'[५]

स्वरूप

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटक में 'रस' तत्त्व ही वास्तव में उसका प्राणतत्त्व है। 'रस' शब्द की प्राचीनतम अवधारणा 'ऋग्वेद' मे मिलती है। डॉ० हरिराम मिश्र[६] के मतानुसार ऋग्वेद में 'रस' शब्द का अर्थ जल, सोमरस, गो-दुग्ध तथा सुगन्धि है। रस के अर्थ में निरन्तर विकास हुआ है। इस अर्थ-विकास में एक महत्त्वपूर्ण चरण है—उसका स्थूल आधार से सूक्ष्म आधार पर जाना। जहाँ 'रस' पहले स्थूल पदार्थ था, वही आगे चलकर 'अस्थूल आनन्द' बन गया।[७] इसे निम्न पंक्तियों में स्पष्ट किया जाता है।

---

१. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : ६।१०
२. धनंजय : दशरूपक : १।६
३. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : ३।१२४
४. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० ८०
५. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय नाट्य साहित्य : पृ० ३९
६. डॉ० हरिराम मिश्र : दि थियोरी ऑफ़ रस इन संस्कृत ड्रामा : पृ० १९८
७. वही : पृ० १९८

रस के सम्बन्ध में हमें अनेकानेक आचार्यों के मत उपलब्ध होते हैं, किन्तु रस के स्वरूप पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने का श्रेय भरतमुनि को ही है। भरतमुनि और उनके परवर्ती आचार्यों में हमें एक स्पष्ट अन्तर मिलता है। भरत ने 'रस' का प्रयोग नाट्य के प्रसंग में किया था अतः उनके विचारानुसार रस वस्तुगत था। किन्तु आगे चलकर भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने इसे सहृदयगत माना और इस प्रकार रस 'आ-वाद्य' के स्थान पर 'आस्वाद' बन गया। इस सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र[1] का यह कथन स्थिति का सही चित्रण प्रस्तुत करता है :

'ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी हो, भरत का आशय जो भी रहा हो, भारतीय साहित्य एवं साहित्यशास्त्र मे अभिनव-प्रतिपादित आस्वादपरक रूप ही मान्य हुआ। विषयगत अर्थ अर्थात् भरत का अभीष्ट अर्थ 'रस' के स्थान पर काव्य का वाचक बन गया।'

रस-निष्पत्ति

नाट्यकला सम्बन्धी उपलब्ध प्राचीनतम ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' के आद्य नाट्याचार्य भरतमुनि ने ही रस-निष्पत्ति का सूत्र सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। डॉ० हरिराम मिश्र[2] ने राजशेखर और केशव मिश्र के मतों के आधार पर भरतमुनि के पूर्ववर्ती आचार्यों मे नन्दिकेश्वर और भगवान शुद्धोदनी का नाम गिनाया है, जिन्होंने 'रस' का विवेचन किया था। परन्तु इन दोनों आचार्यों की कृतियाँ आज उपलब्ध नही है, अतः भरतमुनि के मत को ही प्रस्तुत स्थितियों मे प्राचीनतम स्वीकार करना पड़ता है।

भरतमुनि का रस-निष्पत्ति सम्बन्धी अत्यन्त लोकप्रिय सूत्र है : 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'

अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में एक बात उल्लेखनीय है कि भरतमुनि ने रस के मूलाधार स्थायी भाव को इसमें स्थान नहीं दिया है। धनंजय[3] द्वारा दी गई परिभाषा भरतमुनि के अनुरूप ही है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र[4] की रस-निष्पत्ति सम्बन्धी मान्यता उक्त आचार्यों से यत्किंचित भिन्न है। उनके मतानुसार विभाव तथा व्यभिचारी आदि के कारण परितोष को प्राप्त होने वाला, स्पष्ट अनुभावों के द्वारा प्रतीत होने वाला

१. डॉ० नगेन्द्र : रस सिद्धान्त : पृ० ८५
२. डॉ० मिश्र : दि थियोरी ऑफ़ रस इन संस्कृत ड्रामा : पृ० १९९
३. धनंजय : विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावां रसः स्मृतः ॥—दशरूपकः ४।१।
४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : ३।१०९

स्थायी भाव ही सुख-दु:खात्मक रस होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे रस को सुख-दु:खात्मक मानते है, अर्थात् कुछ रस सुखात्मक हैं और कुछ रस दु:खात्मक (इसका आगे विवेचन किया गया है)।

रस के स्वरूप पर भरतमुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक अनेकानेक आचार्यों ने विचार किया है। उस समस्त विवेचन को यहाँ प्रस्तुत करना न तो प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है और न ही स्थानाभाव के कारण सम्भव। फिर भी समस्त विवेचन का सार हमें आचार्य विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' में उपलब्ध होता है।[1] आचार्य विश्वनाथ की रस-परिभाषा से निम्न तथ्यों की उपलब्धि होती है :

(क) रस आस्वाद-रूप है।
(ख) रस का उद्रेक सत्व की स्थिति में होता है।
(ग) रस एक अखण्ड चेतना है।
(घ) रस 'स्वप्रकाश' है।
(ङ) रस निश्चित रूप से आनन्दमयी चेतना है।
(च) रस-चर्वणा चैतन्य अवस्था में होती है।
(छ) रस-चर्वणा के समय अन्य किसी भी ज्ञेय वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता।
(ज) इसका आस्वाद 'ब्रह्मानन्द' के सदृश है।
(झ) यह एक अलौकिक चमत्कार है।

रस-सामग्री

रस-सामग्री के अन्तर्गत स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव आते हैं।

(अ) **स्थायी भाव**—आचार्य धनंजय[2] के अनुसार 'विरोधी अथवा अविरोधी भावों से जिसका प्रवाह विछिन्न न हो तथा जो अन्य भावों को आत्मसात् कर ले उसे स्थायी भाव कहते हैं।' विश्वनाथ तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र[3] का भी यही मत है। अत: स्थायी भाव ऐसी मानसिक स्थिति है जो सपक्षीय और विपक्षीय मन:स्थितियों के प्रभाव

---

१. विश्वनाथ :

सत्वोद्रेकादण्डस्वप्रकाशानन्द चिन्मय:।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मानन्द सहोदर:॥
लोकोत्तर चमत्कार प्राण: कैश्चितप्रमातृभि:।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायामस्वाद्यते रस:॥

—साहित्यदर्पण : ३।२-३

२. धनंजय : दशरूपक : ४।३४

३. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।१७४ तथा
रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : ३।१०९

से प्रभावित नही होती । जहाँ व्यभिचारी भाव समय-समय पर उठते गिरते-रहते हैं, वहाँ स्थायी भाव एक ऐसी मानसिक स्थिति है, जो अपेक्षाकृत अधिक स्थायी है ।

(आ) **विभाव**—भावों को उद्दीप्त करने वाले जो कारण हैं उन्हें 'विभाव' कहा जाता है । दशरूपककार[1] के मतानुसार ज्ञान के विषयीभूत हो, जो भावों का ज्ञान कराएँ और भावों को परिपुष्ट करें, उन्हें विभाव कहा जाता है । ये दो प्रकार के होते हैं—आलम्बन और उद्दीपन ।

(इ) **अनुभाव**—आचार्य विश्वनाथ[2] के अनुसार 'हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले अंगादि व्यापारो का नाम अनुभाव है । यही मत आचार्य धनंजय[3] का है ।

(ई) **व्यभिचारी**—जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती रहती हैं और उसी में विलीन होती रहती है, उसी प्रकार रत्यादि स्थायी भाव में जो भाव उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं उन्हें व्यभिचारी अथवा संचारी भाव कहा जाता है ।[4]

रस-संख्या

संस्कृत नाट्याचार्यो में रस-संख्या को लेकर पर्याप्त मतभेद है । भरतमुनि[5] ने केवल आठ रस ही माने हैं : शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत । भरतमुनि के ही अनुरूप धनंजय ने भी रसों की संख्या आठ ही स्वीकार की है । उन्होने शान्त रस को स्वीकार नही किया है । उन्होंने इसके स्थायी भाव 'शम' को दो कारणों से स्वीकार नहीं किया :

(क) नाट्य अभिनयात्मक होता है और 'शम' समस्त व्यापारो का प्रविलय रूप है । अतः इन दोनो का सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता ।

(ख) इसके साथ ही इन्होंने 'निर्वेद' को भी स्थायी भाव इसलिए स्वीकार नही किया है, क्योंकि यह अपने विरोधी एवं अविरोधी भावों से उच्छिन्न हो जाता है ।[6]

शान्त रस के विरोध करने वालों में रसार्णवसुधारककार शिंगभूपाल,[7] मन्दारमरन्द चम्पू के रचयिता श्री कृष्ण कवि[8] का नाम लिया जा सकता है ।

---

१. धनंजय : दशरूपक : ४।२
२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।१३२
३. धनंजय : अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मक : दशरूपक : ४।३
४. धनंजय : दशरूपक : ४।७
५. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : ६।१५
६. धनंजय : दशरूपक : ४।३५-३६
७. डा० मिश्र : दि थियोरी आफ़ रस इन संस्कृत ड्रामा : पृ० २७४
८. वही : पृ० ३००-३०१

भरतमुनि प्रतिपादित आठ रसों के स्थान पर नौ रसों को स्वीकार करने वाले आचार्यों में अभिनवगुप्त का नाम सर्वप्रथम आता है। इन्होंने 'निर्वेद' की स्थिति को स्वीकार किया है।[1] इसी परम्परा में आचार्य विश्वनाथ[2] तथा आचार्य रामचन्द्र-गुण चन्द्र[3] का नाम भी लिया जा सकता है।

रस की सुख-दु खात्मकता का प्रश्न

यद्यपि हमारे यहाँ रस को मूलतः आनन्दमयी चेतना माना गया है, तथापि कुछ एक आचार्यों ने इसकी दुःखात्मकता का भी उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त[4] के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके मतानुसार शृंगार, हास्य, वीर तथा अद्‌भुत में सुख की प्रधानता के साथ दुःख का अनुवेंध भी रहता है। इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा बीभत्स रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का अनुवेंध भी रहता है। आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र[5] ने रस को सुख-दुःखात्मक माना है। उन्होंने पाँच रसों—शृंगार, हास्य, वीर, अद्‌भुत तथा शान्त—को सुखात्मक और चार रसों—करुण रौद्र, भयानक तथा बीभत्स को दुःखात्मक माना है। किन्तु इसके विपरीत आचार्य विश्वनाथ[6] ने सभी रसो को ऐकान्तिक सुखात्मक माना है।

पूर्वरंग-विधान

नाट्योत्पत्ति के सम्बन्ध में विवेचन यह स्पष्ट करता है कि इसका सम्वन्ध धार्मिक विधि-विधान से है। 'पूर्वरंग' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए भरतमुनि[7] का कथन है कि 'रंगभूमि में वास्तविक नाट्य-अभिनय से पूर्व जो प्रयोग किए जाते हैं, उन्हें समष्टि रूप में 'पूर्वरंग' कहा जाता है। इसका प्रवर्तन धर्म, यश तथा आयु की अभिवृद्धि करने वाला है। पूर्वरंग-विधान से आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'नाटक में यज्ञ का गौरव आ गया।'[8]

(क) नान्दी

पूर्वरंग-विधान में 'नान्दी' का महत्वपूर्ण स्थान है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से

१. आचार्य विश्वेश्वर : हिन्दी अभिनव भारती : पृ० ४७८
२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ३।१७५
३. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्य-दर्पण : ३।१११
४. आचार्य विश्वेश्वर : हिन्दी अभिनव भारती : पृ० २२४
५. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : सुख-दु.खात्मको रसः—नाट्यदर्पण : ३।१०९
६. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण ३।४-५
७. भरतमुति : नाट्य शास्त्र : ५।६, ५।५५
८. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक : पृ० १५।

विचार करने में कहा जा सकता है कि यह 'नन्द' धातु से विकसित हुई है, जिसका अर्थ है 'आनन्द'। अतः 'नान्दी' शब्द का अर्थ हुआ आनन्द प्रदान करने वाला।[1] भरतमुनि[2] के शब्दों में 'यह देवता' ब्राह्मण तथा राजा आदि के आशीर्वचनों से युक्त होता है। आचार्य विश्वनाथ[3] ने नान्दी को विघ्न-शान्ति के लिए आवश्यक उपकरण के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र[4] के मतानुसार नान्दी-पाठ करने वालों में सूत्रधार, स्थापक तथा पारिपार्श्विक तीन पात्र आते हैं।

(ख) प्रस्तावना

आचार्य विश्वनाथ[5] ने प्रस्तावना तथा 'आमुख' को एक ही स्वीकार किया है। नान्दी के पश्चात् स्थापक रंगमंच पर प्रवेश करता है तथा अभिनेय नाटक के खेले जाने का अवसर, नाटक की विषय-वस्तु, नाटककार के सम्बन्ध में प्रेक्षकों को संक्षिप्त जानकारी देता है। इसी समय नाट्य-कृति को संगीतात्मक पृष्ठभूमि देने के लिए गीत भी गाया जाता है।

उपर्युक्त समग्र विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृत नाट्याचार्यों ने रस तत्त्व पर ही सर्वाधिक बल दिया है। कथानक तथा पात्रों की सफलता इसी में है कि वे रसपूर्ण नाट्य-कृति की सर्जना कर सकें। सभी नाट्याचार्यों ने नाट्य-वाङ्मय को विविध भावों का अनुकीर्तन स्वीकार किया है, जिससे रस की महत्त्वपूर्ण सत्ता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। किन्तु इस सम्बन्ध मे यह बात उल्लेखनीय है कि हमारे यहाँ 'वस्तु' के रचना-तन्त्र का इतने विस्तार से विवेचन किया गया है कि उसकी व्यावहारिकता संदिग्ध हो जाती है। किसी भी नाटककार द्वारा उनका पूर्ण-रूपेण पालन करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। पात्रों के विवेचन में आचार्यों ने चरित्र के अन्तरंग पक्ष को निरा उपेक्षणीय रखा है, जो कि वर्तमान परिस्थितियों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इन सब दोषो के होते हुए भी संस्कृत नाट्याचार्यों ने जिस प्रकार 'रस' को प्राण रूप में स्वीकार किया है, वह समस्त नाट्य-जगत् को उनकी अतुलनीय देन है।

●

---

१. डा० शास्त्री : दि लाज एण्ड प्रैक्टिस ऑफ़ संस्कृत ड्रामा : पृ० ३१-३२
२. भरतमुनि : नाट्यशास्त्र : ५।२४
३. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।२२-२५
४. रामचन्द्र-गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण : ४।१५४
५. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : ६।३१-३२

: २ :

यूरोप के प्रमुख नाट्यरूप और उनकी प्रवृत्तियाँ

त्रासदी का सैद्धान्तिक विवेचन

यूरोपीय नाट्य साहित्य का उद्‌भव सर्वप्रथम यूनान में हुआ। यूनान-निवासी भारतीयों की ही भाँति ईश्वर और प्रकृति मे विश्वास करते थे। प्रतिक्षण परिवर्तन-शील जगत् का नियमन करने वाली कोई दैवी शक्ति है, ऐसा उन्होने अवश्य ही अनुभव किया होगा। कालान्तर में उसी दैवी शक्ति की अर्चना के लिए उन्होने विभिन्न देवताओं की परिकल्पना की, जिनमें 'डायनिशस' तथा 'बेकस' देवता सर्वाधिक पूज्य माने जाते थे।

ग्रीस में डायनिशस देवता को साधारणत: मद्य का देवता माना जाता है। परन्तु व्यापक रूप में उसे हिंस्र तथा पादपजात, संपोषण और वृद्धि का देवता भी माना गया है।[1] लूकस के शब्दों में 'इस देवता' की पूजा के लिए यूनानी लोग उन्मत्त होकर अनेकानेक ऐसे शक्ति-प्रदर्शन के कार्य करते थे जो उनकी सामान्य-सीमा से बाहर होते थे।[2] ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि डायनिशस देवता की पूजा के लिए एथेन्स में एक उत्सव का आयोजन किया जाता था जिसमें एथेन्स-निवासी भाग लिया करते थे। इनमें गायकों की टोलियाँ हुआ करती थीं। प्रारम्भ मे एक प्रमुख गायक सामाजिकों के सम्मुख डायनिशस की प्रशंसा मे गीत गाता। इसके पश्चात् उन्ही भावों की अभिव्यक्ति वह एक नृत्य के द्वारा करता था। इस नृत्य को 'डिथिरैम्ब नृत्य' कहा गया है। 'डिथिरैम्ब नृत्य' डायनिशस देवता के स्तवन मे गाया जाने वाला गीत है। लूकस के विचारानुसार इसका नाम भी देवता के एक सम्प्रदाय के नाम पर आधारित है।[3] वस्तुत: 'डिथिरैम्ब' सह-नृत्य-गायन ही है जिसमें समवेत स्वर में मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। इसी

---

1. D.W. Lucas : Though we know Dionysus best as god of wine, he was really a god of vegetation and wild life in general.
—The Greek Tragic Poets : pp. 34.
2. Ibid : pp. 34.
3. D.W. Lucas : The Dithyramb was a song in honour of Dionysus, and the name is one of God's cult title.
—The Greek Tragic Poets : pp. 35

नृत्य से आगे चलकर 'कोरस' का जन्म हुआ। प्रारम्भ में जहाँ समूह के सम्मुख एक ही व्यक्ति गाता था, वहाँ आगे चलकर सामाजिकों का समूह भी उसमे भाग लेने लगा। इसी को 'कोरस' कहा गया। 'कोरस' के सम्बन्ध में हथहार्न महोदय का कथन है कि 'समूह' के लोग कभी तो पशुओं के चर्म से आवृत्त होते थे और कभी नहीं। कालान्तर मे त्रासदी का उद्भव इसी 'कोरस' से हुआ।[1]

त्रासदी का स्वरूप-विकास करने वाले व्यक्तियों मे एथेन्स के कोरस-नायक थेस्पिस का नाम भी उल्लेख्य है। थेस्पिस की महान् देन त्रासदी में प्रथम बार 'पात्र-सृजन' है।[2] पात्र-सृजन के अतिरिक्त थेस्पिस का कार्य वृन्दगायकों को सामग्री देना, मुखाकृति के लिए मुखौटो का प्रयोग तथा कोरस मे वार्तालाप-तत्त्व का समावेश करना भी माना गया है।[3] रूप-रचना की दृष्टि से कालान्तर में इसमे कथा तत्त्व का समावेश किया गया। इस प्रकार 'डिथिरैम्ब' नृत्य से त्रासदी का जन्म हुआ।

हिन्दी में त्रासदी शब्द अग्रेजी के ट्रेजेडी शब्द के ध्वनि-साम्य के आधार पर बनाया गया है। 'ट्रेजेडी' शब्द की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए लूकस[4] का कथन है कि 'ट्रेजेडी' की व्युत्पत्ति 'गोट सांग' (अजगान) से हुई है। इसके उपलक्ष में होने वाले उत्सव की ओर संकेत करते हुए उनका कथन है कि एक दीर्घकाल तक इसका स्वरूप 'अजदेवता' से सम्बन्धित था। समूह-गायक या तो अज के चर्म से अपने को आवृत्त रखते थे अथवा छद्मवेश में अज पशु बनते थे। इसका कारण यह है कि डायनिशस देवता को अज पशु पवित्र था।[5] इस उत्सव के सम्पन्न होने पर डायनिशस को प्रसन्नता होती थी, और बदले में वह लोगों को प्रसन्नता देता था। अतः त्रासदी मूल रूप में डायनिशस देवता के उपलक्ष में होने वाले उत्सव का अंग मात्र थी।[6]

---

1. Hathhorn : At any rate, no one denies that at sometimes in the 6th Century B.C. drama developed out of the Chorus.
—The Handbook of Classical Drama
2. D W. Lucas : The final stage in the creation of drama is reached with Thespis, who invented an actor, who conversed with the leader of the Chorus. —The Greek Tragic Poets : pp. 35
3. R Y Hathhorn : The Handbook of Classical Drama : pp. 329
4. D W. Lucas : The most important derivation of the word tragedy is from 'goat song'. —The Greek Tragic Poets : pp. 35
5. D.W. Lucas : The Greek Tragic Poets : pp. 35
6. Leo Aylen : In Athens during the fifth Century it was a solemn religious chorul work. This must have been the undifferentiated chorul improvisation out of which all the form grew. —Greek Tragedy & The Modern World : pp. 28

त्रासदी में जिस 'गाम्भीर्य' की बात अरस्तू ने की है, वह परवर्ती काल की देन है।

त्रासदी की परिभाषा करते हुए अरस्तू का कथन है कि 'त्रासदी' किसी गम्भीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों, भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।[1] अरस्तू द्वारा दी गई त्रासदी की परिभाषा उनके समसामयिक एवं पूर्ववर्ती त्रासदीकारों की रचनाओं पर आधारित है। जहाँ तक व्याख्या का प्रश्न है, इस परिभाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं (अनुकरण, कार्य-व्यापार, गम्भीर तथा विरेचन) जिनकी व्याख्या स्पष्ट रूप से न होने के कारण परवर्ती काल में विवाद उठ खड़ा हुआ है। यहाँ इन पर स्थानाभाव तथा अप्रासंगिकता के भय से विचार नहीं किया जा रहा है।

अरस्तू की त्रासदी सम्बन्धी मान्यताएँ अपने आप में अस्पष्ट और व्याख्यात्मक हैं। त्रासदी के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली कुछ अन्य परिभाषाओं को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। बूचर के शब्दों मे 'त्रासदी मानव-नियति का महत्त्वपूर्ण चित्र है'।[2] मरे के शब्दों मे 'ग्रीक परम्परा के अनुसार त्रासदी डायनिशस देवता की पूजा का धार्मिक कृत्य है तथा उसी देवता के दुखों को व्यक्त करती है'।[3] लियो आयलन महोदय के मतानुसार, त्रासदी मानव-जीवन की विकृतियाँ और उसके परिणामों का चित्र है।[4]

त्रासदी की उक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि त्रासदी का सम्बन्ध मूल रूप से दुःखान्त अथवा सुखान्त भावना से नहीं है। त्रासदी का अन्त दुःखमय हो सकता है, किन्तु इसे हम त्रासदी का अनिवार्य तथा अपरिहार्य अंग स्वीकार नहीं कर सकते।

---

1. Aristotle : Tragedy, then, is an imitation of an action that is serious, complete, and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play, in the form of action, not narrative, through pity and fear and effecting the proper katharsis or purgation of these emotions.
—Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 23
2. Butcher : It is a picture of human density in all its significance.
—Aristotle's Theory of Poetry and Fine Arts : pp. 241
3. Gilbert Murray : Aristole on the Art of Poetry : pp. 15
4. Leo Aylen : Greek Tragedy and the Modern World.

त्रासदी में जीवन का गम्भीर और महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रस्तुत किया जाता है। एक अवसादमय वातावरण प्रस्तुत करके भी अन्ततः आनन्द को प्रस्तुत करना ही इसका उद्देश्य है (इसकी प्रक्रिया अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त में निहित है)।

तत्त्व विश्लेषण

अरस्तू ने त्रासदी के ६ अंगों का उल्लेख किया है : वस्तु, चरित्र, पद-रचना (भाषा), विचार, दृश्यत्व तथा गीत।[1]

वस्तु

अरस्तू के विचारानुसार 'घटनाओं का विन्यास' वस्तु है। अरस्तू ने 'वस्तु' को ही त्रासदी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है। 'वस्तु' के प्रति उनका आग्रह इतना प्रबल है कि वे चरित्र को भी वस्तु के ही अधीन स्वीकार करते है। उनका कथन है कि 'चरित्र' के बिना त्रासदी हो सकती है, कार्य-व्यापार के बिना नहीं।[2] अरस्तू के इस कथन का परवर्ती आलोचकों ने विरोध किया है।[3]

'वस्तु' के महत्त्व-प्रतिपादन के पश्चात् इसके चयन के आधारों का उल्लेख किया गया है :

(क) दन्त कथा मूलक
(ख) कल्पना मूलक
(ग) इतिहास मूलक

इन तीनों आधारो में से, ऐसा प्रतीत होता है कि अरस्तू के समय तक इतिहास तथा पुराण को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था।

---

1. Aristotle : Every Tragedy, therefore, must have six parts, which determine its quality—namely, Plot, Character, Diction, Thought, Spectacle, Song.

   —Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 25

2. Aristotle : But most important of all is the structure of the the incidents...Character comes in as subsidiary to the actions. Hence the incidents and the plot are the end cf a tragedy... Again, without action there can be a tragedy, there may be without character.

   —Butcher: Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts: pp. 25

3. Scott-James : We need not attach undue importance to his parenthetic remark that there can be a tragedy without character, but not without action.

   —The Making of Literature : pp. 62

कथानक के प्रकार—अरस्तू ने कथानक के दो भेद स्वीकार किए हैं—(क) सरल तथा (ख) जटिल। इस सरलता और जटिलता का निर्णायक तत्त्व उन्होंने कार्य-व्यापार माना है।[1] सरल कथानक वह है जिसका कार्य-व्यापार 'एक' और अविच्छिन्न हो, जिसमें स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य-परिवर्तन हो जाता हो।[2] जटिल कथानक वह है जहाँ भाग्य-परिवर्तन स्थिति-विपर्यय या अभिज्ञान दोनो के द्वारा घटित होता है। जटिल कथानक का विकास सीधे रूप में न होकर वास्तव में अनेक घटनाओं के माध्यम से होता है। इन दोनों प्रकार के कथानकों में से अरस्तू ने जटिल-कथानक को श्रेयस्कर माना है।[3]

कथानक के अंग—अरस्तू ने कथानक में नाटकीयता के लिए इसके दो प्रमुख अंग स्वीकार किए हैं :—'स्थिति-विपर्यय' तथा 'अभिज्ञान'। अरस्तू ने 'स्थिति-विपर्यय' के लिए 'पेरीपेतेइआ' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अभिप्राय है ऐसा 'स्थिति-विपर्यय' जिसके मूल में वैषम्य की भावना सन्निहित रहती हो। यह स्थिति-विपर्यय कर्त्ता की इच्छा के विरुद्ध होता है, अतः इससे कथानक में नाटकीयता आ जाती है। 'अज्ञान से ज्ञान में परिणति' ही अरस्तू के मतानुसार अभिज्ञान है।[4] यह अभिज्ञान स्थिति-विपर्यय से संयुक्त होने पर अपने उत्तम रूप में होता है।

कथानक : आयाम—अरस्तू ने कथानक के सीमा-विस्तार सम्बन्धी उपबन्धों पर अधिक बल दिया है। त्रासदी की परिभाषा में उन्होंने लिखा है कि 'त्रासदी' ऐसे कार्य की अनुकृति है जो समग्र एवं सम्पूर्ण हो और जिसमें एक निश्चित आयाम हो।[5]

आयाम—'वस्तु' के सौन्दर्य के लिए अरस्तू ने उसके उचित विस्तार को अत्यावश्यक माना है। अपनी विस्तार सम्बन्धी मान्यताओं को उन्होंने एक उद्धरण द्वारा स्पष्ट किया है।[6] उनके कथन का अभिप्राय यह है कि कथानक न तो इतना

---

1. Aristotle : Plots are either simple or complex, for the actions in real life, of which the plots are an imitator, obviously show a similar distinction.
   —Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts: pp. 39
2. Ib'd: pp. 39.
3. Aristotle : A perfect tragedy should...be arranged not on the simple but on the complex plan. —Ibid: pp 45
4. Aristotle : Recognition...is a change from ignorance to knowledge. —Ibid: pp 41
5. Aristotle : Poetics : VII
6. Ibid : VII

सीमित हो कि जिसका बिम्ब मस्तिष्क में अस्पष्ट ही रह जाए और न ही इतना विराट् कि जिसे मस्तिष्क ग्रहण ही न कर सके।[1] हाउस[2] ने इस सिद्धान्त को सौंदर्यात्मक तथा उपयोगितावादी-दोनों रूपों में स्वीकार किया है।

कथावस्तु की विशेषताएँ—अरस्तू ने आदर्श कथावस्तु की निम्न विशेषताएँ स्वीकार की हैं :

(क) पूर्णता
(ख) एकता
(ग) सम्भाव्यता
(घ) कौतूहल
(ङ) स्वाभाविकता।

चरित्र-तत्त्व

अरस्तू की त्रासदी-परिभाषा में स्थूल रूप से कथानक तथा चरित्र परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में हाउस का कथन है कि 'अरस्तू' के त्रासदी-विवेचन में वास्तव में चरित्र तथा वस्तु का अन्तः विरोध न होकर अन्तः साम्य ही अधिक है। चरित्र के लिए अरस्तू का मूल शब्द 'ऐथोस' है जो परवर्ती काल में पर्याप्त विवाद का विषय रहा है। चरित्र की व्याख्या करते हुए अरस्तू का कथन है कि 'चारित्र्य' वह है जिसके बल पर हम अभिकर्ताओं मे कुछ गुणों का आरोप करते है।[3] एक अन्य उद्धरण मे अरस्तू ने चरित्र से 'नैतिक प्रयोजन की अभिव्यक्ति' तथा 'व्यक्ति की रुचि-विरुचि का प्रदर्शन' भी स्वीकार किया है।[4] अरस्तू के उक्त दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि चरित्र वह है जिसमें (क) कुछ नैतिक गुण-दोष होते है तथा (ख) जो वर्गगत होता हुआ भी वैयक्तिक विशिष्टताओं से युक्त होता है। हाउस[5] के शब्दों में वस्तु को चरित्रार्थ करने वाले

---

1. Butcher : Aristotle's Theory of Poetry of Fine Arts : pp. 33
2. House : This principle of "the right size"...is both aesthetic and utilitarian. —Aristotle's Poetics : pps. 50-51
3. Aristotle : By Character I mean that in virtue of which we ascribe certain qualities to the agents.
   —Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 25
4. Ibid : pp. 29
5. House : Character may be looked upon as the arbitrarily stabilised meeting point of series of actions
   —Aristotle's Poetics : pp. 71

पात्र ही चरित्र कहलाते हैं ।

चरित्र के आधारभूत गुणों में अरस्तू ने भद्रता, औचित्य, वास्तविकता, एकरूपता, सम्भाव्यता तथा श्रेष्ठता आदि गुणों का उल्लेख किया है। यहाँ इन पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

(क) **भद्रता**—अरस्तू ने इसे चरित्र का सर्वप्रमुख गुण माना है। भद्रता का मापदण्ड है—उद्देश्य । यदि उद्देश्य भद्र है तो चरित्र भी भद्र होगा ।[1]

(ख) **औचित्य**—'औचित्य' से अरस्तू का अभिप्राय पात्र की प्रकृति तथा सामाजिक सत्ता के अनुरूप उसका चित्रण है ।[2] अरस्तू के मतानुसार पुरुष पात्रों में पुरुषोचित और स्त्री-पात्रों में स्त्रियोचित गुणों का आरोप ही औचित्य है ।

(ग) **वास्तविकता**—चरित्र का तीसरा गुण वास्तविकता है । इसके वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-वैभिन्नय है । स्थूल रूप से इसके दो अर्थ लगाए गए हैं—(१) यथार्थ जगत के नर-नारियों के अनुरूप तथा (२) चरित्रांकन परम्परागत धारणाओं के अनुरूप हो ।[3] व्यावहारिक दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि अरस्तू का अभिप्राय पहले अर्थ से ही हो सकता है ।

(घ) **एकरूपता**—'एकरूपता' शब्द अपने आप में भ्रामक प्रतीत होता है । 'एकरूपता' का सम्बन्ध परिवर्तनशील चरित्र से न होकर उसके आधारभूत कार्यों से है । प्रत्येक पात्र में कुछ विशिष्ट वैयक्तिक गुण होते हैं, पात्र को उन्हीं गुणों के आधार पर आद्यन्त अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करनी चाहिएँ ।[४] यही एकरूपता का मूल भाव है ।

त्रासदी : नायक

त्रासदी-नायक के सम्बन्ध में अरस्तू का कथन है कि उसे सामान्य स्तर से ऊँचा होना चाहिए ।[५] उसमें मौलिक रूप से कोई दोष न हो । भाग्य-परिवर्तन (सम्पत्ति से विपत्ति में पतन) का कारण कोई आचरण सम्बन्धी दोष अथवा भूल हो ।[६] उसे अत्यन्त वैभवशाली, यशस्वी एवं कुलीन होना चाहिए ।[७]

---

1. Aristotle : Characters will be good if the purpose is good.
   —Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts. pp. 53
2. House : Aristotle's Poetics : pp. 86
3. Ibid.
4. House : Aristotle's Poetics : pp. 92
5. Aristotle's Poetics : II : 1448 a.
6. Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 47
7. Ibid : pp. 45

विचार-तत्व

'वस्तु' तथा 'चरित्र' के पश्चात् विचार-तत्व पर विवेचन उपलब्ध होता है। विचार-तत्व की व्याख्या करते हुए अरस्तू का कथन है कि 'प्रस्तुत परिस्थितियों में जो सम्भव और संगत हो उसके प्रतिपादन की क्षमता' विचार-तत्व कहलाता है।[1] एक अन्य उद्धरण में इसकी आवश्यकता पर विचार करते हुए उनका कथन है कि 'इसका उपयोग किसी वक्तव्य को सिद्ध करने अथवा सामान्य सत्य के आख्यान के लिए किया जाता है।[2] अरस्तू के दोनों उद्धरणों से यह जान पड़ता हैं कि त्रासदी में विचार-तत्व किसी पदार्थ की सत्ता अथवा उसकी अविद्यमानता को सिद्ध करने के लिए रखा जाता है। लूकस[3] के विचारानुसार 'विचार तत्व' कवि की बौद्धिकता को प्रखर उष्ण सूर्य की भाँति प्रोद्भासित करता है।

भाषा-तत्व

विचारों को व्यक्त करने का माध्यम भाषा है, अतः विचार-तत्व के पश्चात् भाषा-तत्व पर विचार किया गया है। भाषा-तत्व पर प्रकाश डालते हुए अरस्तू का कथन है कि 'भाषा-तत्व' से मेरा अभिप्राय शब्दों के छन्दोबद्ध संयोजन मात्र से है।[4]

शैली की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए अरस्तू का कथन है कि :—

(क) शैली का पूर्ण उत्कर्ष इस बात में है कि वह सरल हो किन्तु क्षुद्र न हो। शैली की सरलता केवल प्रचलित या उपयुक्त शब्दों के प्रयोग द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।[5]

(ख) किन्तु इसके विपरीत जिस शैली में अप्रचलित शब्द—अर्थात् नवीन शब्द, दीर्घ शब्द तथा कम उपयोग में लाए जाने वाले शब्द हों—वह

---

1. Aristotle : Thought—that is, the faculty of saying what is possible and pertinent in given circumstances.
   —Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 29
2. Ibid : pp. 25
3. Lucas : The intellect illuminates the poet's world like a tropical sun, first quickening, then scoerching it to dust and disillusion. —Tragedy : pp. 125
4. Aristotle : By 'Diction' I mean the mere metrical arrangement of the words.
   —Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 25
5. Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 81

काव्य-सौन्दर्य से युक्त असाधारण शैली हो जाती है।[1] किन्तु इस शैली में अरस्तू ने साधारण शब्दों का पूर्णतया बहिष्कार नहीं किया है।[2]

अरस्तू की काव्य-पदावली सम्बन्धी मान्यता यह है कि साधारण तथा असाधारण शब्दों का प्रयोग शैली को उत्कर्ष प्रदान करता है।

दृश्य-तत्व

इस तत्व का सम्बन्ध त्रासदी के मंच पक्ष से है। प्रत्येक त्रासदी के स्थूल रूप से दो पक्ष होते हैं—रचना-पक्ष तथा प्रदर्शन पक्ष। अरस्तू[3] ने त्रासदीकार का कर्म मंच-शिल्पी के कर्म से पृथक् करके देखा है जो कि संगत नही है।

गीत-तत्व

अरस्तू[4] ने गीत-तत्व को त्रासदी के आभरण के रूप में ग्रहण किया है। गीत के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी अरस्तू ने इसके अधिक प्रयोग का निषेध किया है। गीत के प्रयोग के सम्बन्ध में लूकस[5] का कथन है कि इसका प्रयोग वृन्दगान के प्रसंग में तथा त्रासदी के मध्य में किया जाता था।

त्रासदी का उपर्युक्त तात्विक-विवेचन मूल रूप मे अरस्तू को आधार बनाकर किया गया है। अरस्तू के पश्चात् ग्रीस में कोई महत्त्वपूर्ण आचार्य उत्पन्न नही हुआ। ग्रीस से हटकर नाटक का आगमन रोम में हुआ। रोम के प्रसिद्ध विवेचक होरेस ने

---

1. Aristotle : The Diction becomes distinguished and non-prosaic by the use of unfamiliar terms i e., strange words, metaphors, lengthened forms, and everything that deviates from the modes of speech.

   —Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts. pp. 75
2. Ibid : pp. 75
3. Aristotle : The Spectacle...is the least artistic, and comnected least with the art of poetry.

   — Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 29
4. Aristotle : greatest of the pleasurable accessories of tragedy.

   Ibid : pp. 39
5. D.W. Lucas : At critical moments in the play the songs of the chorus provide a pause for emotional digestion, song with its elaborate poetrical language, and with the change in the texture of feelings. —The Greek Tragic Poets : pp. 43

तत्पश्चात् त्रासदी का विवेचन प्रस्तुत किया, जो मूल रूप में अरस्तू के अनुरूप ही था।

त्रासदी का वर्गीकरण

वान[1] ने प्रमुख रूप से त्रासदी के दो वर्ग स्वीकार किए हैं—शास्त्रीय तथा स्वच्छन्दतावादी। शास्त्रीय त्रासदी अपने शुद्ध रूप में प्राचीन ग्रीक त्रासदी है।[2] जिसका विवेचन पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया गया है। शास्त्रीय त्रासदी के तीन त्रासदीकारों—ऐस्किलस, सोफोक्लीज तथा यूरिपिडीज—के आधार पर तीन धाराओं का उल्लेख किया गया है।

(१) ऐस्किलीय धारा
(२) सोफोक्लीय धारा
(३) यूरिपिडीय धारा

प्राचीन शास्त्रीय त्रासदी का पुनरुद्धार १५वीं शती में यूरोप में 'नवजागरण काल' (रिनेसाँ) में होता है। इस काल में प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों की पुनः प्रतिष्ठा हुई। इसे 'नियो क्लासिज्म' की संज्ञा दी गई। प्राचीन शास्त्रीय त्रासदी की भाँति आधुनिक शास्त्रीय त्रासदी की भी दो धाराएँ मिलती हैं—(१) रेसिन धारा तथा (२) अल्फेरी धारा। यही दो धाराएँ वास्तव में 'रिनेसाँ' युग की शास्त्रीय त्रासदी का प्रतिनिधित्व करती हैं।[3]

स्वच्छन्दतावादी त्रासदी

शास्त्रीय त्रासदी में शास्त्रीयता इस रूप में आने लगी कि आगे चलकर इसमें विकास के स्थान पर यांत्रिकता और जड़ता आ गई। इस यांत्रिकता और जड़ता के विरोध में १८वीं शती के मध्य में फ्राँस में एक नवीन विचाराधारा का आगमन हुआ, जिसे 'स्वच्छन्दतावाद' कहा गया। स्वच्छन्दतावादी त्रासदी की भी वान महोदय ने

---

1. C.E. Vaughan : There are, it is generally admitted, two main types of tragic drama—those known to critics under the names classical and romantic.

—Types of Tragic Drama : pp. 2

2. Ibid : pp. 2
3. Vaughan : Modern Classical drama, the drama, which traces its source to Seneca and Euripides. In this two figures stand out before all others : they are Racine and Alfieri. In the drama, there are the two typical products of the classical of the classical Renaissance.

—Types of Tragic Drama : pp. 109

दो धाराएँ स्वीकार की है—

(१) शेक्सपियरीय धारा

(२) ऐतिहासिक धारा

(१) शेक्सपियरीय धारा की विशेषताएँ

(क) शास्त्रीय नियमों का विरोध स्वच्छन्दतावादी त्रासदी का सर्व प्रमुख गुण है।[1]

(ख) कथानक-संगठन प्राय: शिथिल ही होता है।[2]

(ग) पात्रों का चुनाव प्राय: राजवंश अथवा समाज के सम्मानित वर्ग से किया जाता है।[3]

(घ) कथानकों का चुनाव प्राचीन इतिहास, जीवन चरित्रों तथा लोक-गाथाओं से किया जाता है।[४]

(ङ) शास्त्रीय त्रासदी के विपरीत वस्तु के स्थान पर 'चरित्र' को महत्त्व प्रदान करना शेक्सपियरीय त्रासदियों की विशेषता है।[५]

(च) मुख्य कथा के साथ-साथ अनेक उपकथाओं को स्थान देना।[६]

(२) ऐतिहासिक धारा की विशेषताएँ

ऐतिहासिक धारा का प्रवाह स्वच्छन्दतावादी त्रासदी-साहित्य में लगभग दो युगों तक रहा। इस धारा को प्रवाहित करने का श्रेय गेटे तथा शिलर को है। इनसे प्रभावित होकर लार्ड बायरन, ह्यूगो तथा अनेकानेक अन्य साहित्यकारों ने ऐतिहा-

---

1. Nicoll : The romantic artist casts aside all the formalised 'rules' and eschews the attempt to reduce things to simple term. —World Drama : pp. 409
2. C.E. Vaughan : Types of Tragic Drama : pp. 145
3. डॉ० एस० पी० खत्री : नाटक की परख : पृ० ३७
4. डॉ० एस० पी० खत्री : नाटक की परख : पृ० ४१
5. Vaughan : The plot, which with them held the first place, is now thurst down into the second. Character which had been the subordinate interest, is now treated as the principal. —Types of Tragic Drama : pp. 149
6. Vaughan : With him (Shakespeare) the drama is no longer limited to the main action, the single situation. There are sure to be episodes, side-lights, by-scenes. Ibid : pp. 145

सिक धारा का आगे विकास किया। वान के शब्दों में गेटे तथा शिलर ने ऐतिहासिक नाटकों को एक नवीन धरातल प्रस्तुत किया।[1] ऐतिहासिक धारा की विशेषताओं में निम्न विशेषताएँ स्पष्ट रूप से ज्ञातव्य होती हैं :

(क) व्यक्ति को उसके संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करना।

(ख) पात्रों के व्यक्तित्व में राष्ट्रीय, राजनीतिक तथा सामाजिक संघर्षों को प्रस्तुत किया जाता है।

कामदी का सैद्धान्तिक विवेचन

यूरोपीय नाट्यशास्त्र में त्रासदी-विवेचन के पश्चात् महत्त्व की दृष्टि से कामदी का विवेचन उपलब्ध होता है। उद्भव की दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि त्रासदी की भाँति इसका उद्भव भी धर्म की क्रोड़ में ही हुआ। अरस्तू[2] के मतानुसार कामदी का उद्भव 'लिंग-पूजा' सम्बन्धी नृत्य से हुआ। जान गैसनर महोदय ने कामदी के उद्भव पर सविस्तार प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'एथेन्स के लोगों में यह प्रथा प्रचलित थी कि वे दमित काम-वासनाओं की एक उत्सव के माध्यम से अभिव्यक्ति करते थे। इस उत्सव में ही वे सत्ता के विरोध मे स्वतन्त्रता की देवी की प्रार्थना भी करते थे। देश-निष्कासन प्रसंग के माध्यम से राजनीतिक सत्ताधारियों पर व्यंग्य भी किया जाता था।[3]

कामदी की उत्पत्ति सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यता से यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रासदी की भाँति इसका आयोजन भी डायनिशस देवता की स्तुति में किया जाता था। अतः प्राचीन ग्रीक कामदी अपने मूल रूप में पवित्र थी। त्रासदी में जहाँ देवता की मृत्यु दिखाई जाती थी, वहाँ कामदी में संसृष्टि की उत्पत्ति तथा विकास दिखाया जाता था। यही कारण है कि एथेन्स-निवासी मंच पर ही शारीरिक मिलन को इस विश्वास से दिखाते थे कि वे मंच पर जो कुछ भी सीमित रूप में प्रदर्शित कर रहे हैं, वही सब कुछ व्यापक रूप में विश्व में आदि शक्ति कर रही है।[4] इसके अभिनय के सम्बन्ध में यह

---

1. C. E. Vaughan : Types of Tragic Drama : pp. 199
2. Aristotle : The one (tragedy) originated with the Authors of Dithyramb, the other (Comedy) with the phallic songs.
—Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 1
3. John Gassner : The Athenians considered it sound practice to provide outlets to the normally restrained sexual instinct and to the reflex of rebellion against custom or vested power···The custom of comic mockery was indeed not remote from the political practice of ostracism.
—Masters of the Drama : pp. 79
4. John Gassner : Masters of the Drama : pp. 80

कहा जाता है कि मंच पर पात्र मनुष्य तथा पशु-पक्षियों का रूप धारण कर अपने साथ स्तम्भों पर दीर्घकाय लिंगों को लेकर चलते थे।[1] इसी 'लिंग-पूजा' नृत्य से आगे चलकर कामदी नाट्य-रूप का जन्म हुआ।

परिभाषा

यूरोपीय नाट्य-शास्त्र में कामदी का विवेचन त्रासदी की भाँति विस्तारपूर्वक नहीं किया गया है। इसका कारण यह हो सकता है कि शताब्दियों से नाट्यकारों तथा नाट्याचार्यों ने त्रासदी को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाट्य-रूप स्वीकार किया है। फिर भी जो विवेचन उपलब्ध है, उसके आधार पर कामदी के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

ग्रीक कामदी से लेकर आधुनिक काल की कामदी तक के विवेचन को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि नाट्याचार्यों की कामदी सम्बन्धी मान्यताओं में पर्याप्त विकास हुआ है। प्राचीन ग्रीक आचार्यों में प्लेटो, अरस्तू तथा रोमन आचार्यों में सिसरो, क्विटिलियन के साथ ही श्लीगल, कांट, स्पेंसर, हैजलिट, मेरिडिथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक आचार्यों में बर्गसां, क्रोचे, ईस्टमैन, लीकाक आदि ने भी कामदी के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

कामदी के सम्बन्ध में प्लेटो ने जो कुछ कहा है, उसी को नवीन रूप देकर अरस्तू ने अपने शब्दों मे व्यक्त किया है। अरस्तू ने कामदी का उल्लेख कुछ उद्धरणों में किया है। एक उद्धरण में पात्रों के सन्दर्भ में अरस्तू ने लिखा है कि 'कामदी का लक्ष्य यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण करना है।'[2] इसी कथन का स्पष्टीकरण करते हुए वे आगे लिखते है कि 'कामदी में निम्न कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है। 'निम्न' शब्द का अर्थ 'दुष्ट' न होकर अभिहस्य अथवा कुरूप है। इसमें कुछ ऐसा दोष अथवा भद्दापन रहता है जो अभिहस्य होता हुआ भी अमंगलकारी नहीं होता।[3] उदाहरण स्वरूप कामदी खेलने वाले लोगों के मुँह पर लगा हुआ बनावटी चेहरा कुरूप तो है परन्तु उसमें अमंगल की भावना नहीं है।

अरस्तू के उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने कामदी को त्रासदी की अपेक्षा हल्के स्तर का नाट्य-रूप माना है। इसका उद्देश्य मानव का हीनतर जीवन इस रूप में चित्रित करना है जिससे यह स्वयंमेव अभिहस्य हो जाए।

---

1. John Gassner : Comedy···was the sexual rite in full bloom, with the actors distinguished as birds, cocks, horses, carrying aloft a huge phallus on a pole and singing and dancing suggestively. Ibid : pp. 80
2. Aristotle : Comedy aims at representing men as worse.
—Butcher : Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts : pp. 13
3. Ibid : pp. 21

अरस्तू की कामदी सम्बन्धी यह मान्यता आज आधुनिक कामदी की अपेक्षा प्रहसन (फार्स) पर अधिक लागू होती है। यही कारण है कि कालान्तर में मोलियर तथा अन्य आचार्यों ने इसका खण्डन किया है।

सर फिलिप सिडनी[1] के मतानुसार 'सुखान्तकी का ध्येय स्पष्ट है। उसका उद्देश्य हास्य प्रकट करना नहीं है। सुखान्तकी तो केवल हमारे जीवन के साधारण अवगुणों का उपहासपूर्ण प्रदर्शन मात्र है। हमारे घरेलू तथा निजी जीवन के दोषों का स्पष्टीकरण सुखान्तकी का प्रधान ध्येय है।' सर फिलिप सिडनी के समान ही बेनजानसन[2] भी कामदी का उद्देश्य केवल हास्य प्रदर्शन करना स्वीकार नहीं करते। जान ड्राइडन[3] के शब्दों में सुखान्तकी मनुष्य के दोष और अवगुण का चित्रण करती है। 'कामदी के यथार्थवादी स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए सेमुएल जानसन[4] के शब्दों में कहा जा सकता है कि 'प्रत्येक नाटकीय रचना जो हास्य प्रस्तुत करे सुखान्तकी कही जा सकती है। परन्तु सुखान्तकी रचना के लिए न तो हास्य अनिवार्य है, न निम्न वर्ग के जीवन का प्रदर्शन और न तुच्छ कथावस्तु।'

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अरस्तू के पश्चात् कामदी सम्बन्धी धारणाओं में पर्याप्त अन्तर आया है। नवीन मान्यताओं के अन्तर्गत यह स्वीकार किया गया है कि कामदी प्रहसन से अधिक गम्भीर है तथा इसके हास्य का वह रूप नहीं मिलता जो कि प्रहसन में विद्यमान होता है।[5] इसके अतिरिक्त यह प्रहसन से भिन्न वास्तविक जीवन का चित्रण करती हुई इसकी समस्याओं को भी प्रस्तुत करती है।[6] आधुनिक कामदी में हल्के-फुल्के वातावरण के स्थान पर त्रासदी की भाँति गम्भीरता होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि समग्र प्रभाव में भयोत्पादकता तथा मरण इत्यादि नहीं रहता।[7]

---

1. डा० एस० पी० खत्री : नाटक की परख : पृ० ११८-११९
2. वही : पृ० ११९
3. वही : पृ० १२०
4. वही : पृ० १२४
5. As compared with farce it abstains from crude and boisterous jesting, and is marked by some subtlety of dialogue & plot.
   —Encyclopaedia Britannica : pp. 99 Vol. 6
6. H.L. Yelland : Handbook of Literary Terms : pp. 37
7. Lynn Alterbernd : In general, Comedy presents situations more probable than those of farce, more serious and believable, but not threatening or fatal.
   —A Handbook for the Study of Drama : pp. 68

जहाँ तक कामदी में हास्य का प्रश्न है, इसके उत्तर में यह कहा गया है कि यह हास्य हमें विभिन्न प्रकार के संभ्रान्त लोगों के बुद्धि-चातुर्य, वाक्-सम्भाषण आदि पर आता है अथवा अच्छे लोगों (निम्न कोटि के नही) की आचरणगत त्रुटियों तथा तज्जन्य कष्टों पर आता है।[1] एल० जे० पाट्स[2] के मतानुसार कामदी का सम्बन्ध मात्र हास्य से जोड़ना नितान्त गलत है। वास्तव में कामदी का उद्देश्य, जैसा कि अरस्तू ने माना है, हास्य उत्पन्न करना नहीं है। कई श्रेष्ठ कामदियों का प्रभाव अत्यन्त शान्तिप्रदायक होता है। सुखान्तकी अथवा दुःखान्तकी के लिए यह अनिवार्य नही कि उसका अन्त सुख-पर्यवसायी अथवा दुःखपर्यवसायी ही हो। कामदी प्रायः सुखःपर्यवसायी हो सकती है, परन्तु इसे हम कामदी का अनिवार्य अन्त ही स्वीकार नही कर सकते। कई बार तो कामदी का अन्त भी अवसादमय तथा अशान्तिपूर्ण ढंग से हो जाता है।[3] शिप्ले[4] के विचारानुसार सफल कामदी मानव-प्रकृति की जड़ों में गहरी पैठकर उसका अन्वेक्षण करती है तथा दर्शक को मानव की शक्तियों (सम्भावनाओं) तथा सीमाओं का गहन ज्ञान कराती है।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कामदी न तो निम्न वर्ग के लोगों का जीवन ही प्रस्तुत करने वाला नाट्य-रूप है और न ही केवल हास्य-व्यंग्य को प्रस्तुत करने का माध्यम जो कि अन्ततः सुख-पर्यवसायी हो। आधुनिक कामदी त्रासदी से इस रूप में भिन्न है कि अपने समग्र प्रभाव, परिवेश तथा प्रकृति में यह जीवन का आस्थामय रूप दिखाती है। सभी कठिनाइयों, अवसादों के पश्चात् भी जीवन के प्रति एक लगाव, आशा जगाए रखती है। आधुनिक कामदी के लिए यह अनिवार्य नहीं कि उसका अन्त विवाह अथवा नायक-नायिका के सम्मिलन से ही हो। उसका अन्त वास्तव में क्या है, इसे जानने के लिए नाटककार का दृष्टिकोण, विषय-वस्तु तथा समग्र प्रभाव इत्यादि को जानना आवश्यक है।

---

1. Lynn Alterbernd : A Handbook for the Study of Drama : pps. 68-69
2. L. J. Potts : I cannot help thinking that to identify Comedy with laughter is to begin at the wrong end. —Comedy : pp. 19
3. L. J. Potts : The happiness is irrelevant, though it may be present. And it is often extremely disquieting, and sometimes profoundly sad. —Comedy : pp. 21
4. Shipley : A good Comedy penetrates deeply into the roots of human nature, makes the observer intensely aware of man's poossibilities as well as of his imagination. —Dictionary of World Literature : pp. 67

तत्त्व-विश्लषण

साधारणतया कामदी के भी वही तत्त्व माने जा सकते हैं जो कि अरस्तू ने त्रासदी के सन्दर्भ में गिनाए है। अन्तर केवल पात्रों के चयन और उनके निर्माण पर निर्भर करता है। प्रस्तुत विवेचन में इसी अन्तर को दिखाने का प्रयास किया गया है।

वस्तु—कामदी की वस्तु का चयन सामान्यतया किसी भी क्षेत्र से किया जा सकता है। एल० जे० पाट्स के मतानुसार 'कामदी के विषय-निर्वाचन में लेखक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में अपने आदर्श पात्र से अवश्य ही प्रभावित होता है।'[1] कामदी में लेखक असामान्य विषय-वस्तु को प्रस्तुत करता है। असामान्य विषय-वस्तु को प्रस्तुत करते हुए भी कामदीकार असाधारण के स्थान पर साधारण को ही चित्रित करता है।

रचनातंत्र की दृष्टि से कामदीकार के लिए उन उपबंधों को उतना आवश्यक नहीं माना गया है जितना कि त्रासदीकार के लिए। कामदी में घटनाओं के कार्य-कारण पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता है। यदि कोई कामदीकार घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्ध पर अधिक ध्यान देता है तो कामदी अपने संप्रेषणीय प्रभाव में असफल भी हो सकती है।[2] कामदी के कथानक में चरित्र-वैषम्य और चरित्र-संतुलन में ही सम्भावतया केन्द्रीभूत होती है और यहीं कामदीकार की कल्पना और मौलिकता प्रदर्शित होती है। कामदी की कथावस्तु इस प्रकार की घटनाओं की शिथिलता को लेकर चलती है। वैसे यह लेखक की एक त्रुटी है, परन्तु कामदी में इसे त्रुटि नहीं माना जाता।[3]

चरित्र—कामदी के चरित्र (पुरुष तथा नारी) समाज से ग्रहण किए जाते हैं। इस कथन का अभिप्राय यह है कि पात्रों में काल्पनिकता, वायवीयता के स्थान पर यथार्थवादिता होती है। त्रासदी के पात्रों के क्रिया-कलापों में जो असाधारणता होती है वह कामदी के पात्रों में नहीं। पात्र-सृजन मे नाटककार सर्वदा इसी नियम से पारिचालित होता हो, यह संदेहास्पद है। शेक्सपियर की कामदी के पात्र काव्यात्मक वातावरण को प्रस्तुत करते है। परन्तु त्रासदी से भिन्न इनमें यथार्थ तत्त्व अवश्य

---

1. L. J. Potts : Comedy pp. 45
2. L. J. Potts : A Comedy may even fail in its effect simply because the author has taken pains to make the plot conform strictly to the law of cause & effect.

   —Comedy : pp. 130.
3. L. J. Potts : A lack of logic in the sequence of events so far from being a weakness in the art of the writer, is proper in Comedy. —Comedy : pp. 140

ही विद्यमान होता है। कामदी में वस्तु की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इसमें पात्र न तो अतिमानवीय होते हैं और न ही अमानवीय ही, वरन् वे सामान्य मानव होते हैं।[1] वे एकान्त जीवी न होकर समाज की एक इकाई के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं।'

शैली—किसी भी साहित्य-रूप को, वास्तव में अन्य आधारों की अपेक्षा, उसके शैली पक्ष की दृष्टि से देखने पर दूसरे साहित्य-रूप से अधिक वैज्ञानिक तथा तर्कसंगत ढंग से पृथक् किया जा सकता है। शैली वह निर्णायक तत्त्व है जो लेखक के दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से पाठक के सम्मुख रखती है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि एक ही साहित्यकार की शैली विभिन्न साहित्य-रूपों मे पूर्णतया नवीन रूप धारण नही कर पाती और यही कारण है कि एक के तत्त्व दूसरे में अतिक्रमण कर जाते हैं। उदाहरणार्थ शेक्सपियर के कामदी और त्रासदी नाट्य-रूप किन्हीं सीमाओं पर अन्तःसाम्य लिए हुए प्रतीत होते है। फिर भी, अध्ययन की सुविधा के लिए त्रासदी और कामदी की शैली में जो स्पष्ट अन्तर है, उसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। कामदी की शैलीगत निजी विशेषताओं में निम्न प्रमुख है :—

'कामदीकार की रचना शैली वर्णनात्मक होती है और यही अन्तर संवादों में परिलक्षित होता है। इस वर्णनात्मक शैली का प्रथम आवश्यक गुण है इसकी संक्षिप्तता। पात्र (चरित्र) की सतहें एकदम खुलकर सामने आ जानी चाहिऐं।

कामदी के संवादों का शक्तिशाली तथा तीव्र होना आवश्यक है। पात्र के परिवर्तन के साथ ही संवाद के बोलने के ढंग में भी परिवर्तन अपेक्षित है। कामदी की शैली में अभिव्यंजना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।[2]

कामदी का वर्गीकरण

ऐतिहासिक दृष्टि से डा० खत्री[3] ने कामदी के मुख्य रूप से दो वर्गों का उल्लेख किया है :

(क) रोमीय कामदी
(ख) शेक्सपियरीय कामदी

(क) **रोमीय कामदी**—'रोमीय सुखान्तकी रोम के सामाजिक, पारिवारिक

---

1. L. J. Potts : The Characters of Comedy are not superhuman or sub-human but on a level with the generality of mankind.
—Comedy : pp. 115

2. L. J. Potts : Rhetoric is a valuable element in Comedy.
—Comedy : pp. 95

3. डा० एस० पी० खत्री : नाटक की परख : पृ० ६५

तथा राजनीतिक जीवन और उसके वातावरण की पूर्ण परिचायक है।[1] रोमीय कामदी में आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता के स्थान पर सामाजिक सुधार के लिए समाज-विरोधी तत्त्वों पर व्यंग्य किया गया है।

(ख) **शेक्सपियरीय कामदी**—शेक्सपियरीय कामदी नवीन विचारों, नूतन धरातलों को प्रस्तुत करती है। रोमीय कामदी अंग्रेजी विचारधारा को मुखरित करने में असमर्थ थी, अतः युग की आत्मा को स्वर देने के लिए शेक्सपियर की कामदियाँ ही उपयुक्त समझी गईं। शेक्सपियर के सुखान्तक जगत के सम्बन्ध में डा० खत्री का कथन है कि 'उनका सुखान्तक-जगत कल्पना तथा यथार्थ के अनुपम सामंजस्य द्वारा आविर्भूत है।[2] शेक्सपियरीय कामदी की निम्न विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं :

(अ) कामदियाँ घटना-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान है।
(आ) पात्रो का स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है।
(इ) भावुकता, सहानुभूति, करुणा तथा प्रेम का चित्रण होता है।
(ई) वस्तु-विन्यास मे पहले कठिनाइयों का प्रदर्शन परन्तु अन्त में सुख-सन्तोष की प्राप्ति होती है।

वस्तु के आधार पर भी कामदी के निम्न वर्ग किए जा सकते हैं :

(क) **चरित्र-प्रधान कामदी** : इसमें वैयक्तिक सनकों पर बल दिया जाता है।

(ख) **आचार प्रधान कामदी** : इसमें सम-सामयिक सामाजिक विचारधारा को प्रस्तुत किया जाता है।

(ग) **षड्यन्त्र प्रधान कामदी** : इसका कथानक अत्यन्त जटिल तथा चामत्कारिक ढंग का होता है।

(घ) **प्रकृति प्रधान कामदी** : अपनी प्रकृति से यह नाट्य-रूप कल्पना विहीन अथवा अकाल्पनिक होता है। अधिकांश में पात्र विशेष विचारधारा और विशिष्ट प्रवृत्ति को प्रस्तुत करने के लिए 'टाइप' बन जाते है।

कामदी के उपर्युक्त समग्र विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अपने उद्भव-काल में यह धार्मिक परिवेश से सम्बद्ध थी। परन्तु, कालान्तर में परिवेश के परिवर्तन से उसकी प्रकृति तथा प्रवृत्ति दोनो में अन्तर आ गया है। आधुनिक काल में यह युग-धर्म को प्रस्तुत करने का सशक्त माध्यम मानी गई है।

गीति नाट्य का सैद्धान्तिक विवेचन

पश्चिम में नाट्य-रूपों का उद्भव एक क्रम से हुआ है। उनकी पृष्ठभूमि में

---

१. डा० एस० पी० खत्री : नाटक की परख : पृ० ९५
२. वही : पृ० १०३

क्रिया तथा प्रतिक्रिया का भाव स्पष्ट रूप से ही विद्यमान है। समस्या नाटक के उद्‌भव की पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका उदय युग की तत्कालीन परिस्थितियों तथा शेक्सपियर के रोमानी नाटकों की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ। काल-क्रम की दृष्टि से समस्या नाटक का अन्तिम उत्कर्ष काल प्रथम विश्व महायुद्ध के समय तक ले जाया जा सकता है।

प्रथम विश्व महायुद्ध (१९१४-१९१८) के पश्चात् निश्चित रूप से पश्चिमी रंगमंच में एक परिवर्तन आया। यथार्थवादी साहित्य अपनी यांत्रिकता, जड़ता में जीवन का एकांगी चित्रण करता था। वह केवल जीवन की निराशा, जघन्यता का ही रूप प्रस्तुत करने के कारण जीवन के आशावान और निष्ठावान स्वरूप से प्रायः कट चुका था। परन्तु, प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जीवन-मूल्यों पर आघात हुआ। जीवन अपने नग्न रूप में प्रस्तुत किया गया। ऐसे समय में जबकि जीवन में निराशा, अनास्था, कटुता जन्म ले रही थी, यथार्थवादी साहित्य को अधिक उपयोगी तथा रुचिकर नहीं समझा गया।[1]

इस समय ऐसे साहित्य की आवश्यकता अनुभव की गई, जो लोगों को जीवन के प्रति निष्ठावान बना सके, जीवन का आशापूर्ण चित्र खीच सके। जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न करना, नवीन जीवन-मूल्यों की स्थापना-व्याख्या जितने सरल रूप में कवि काव्य के माध्यम से कर सकता है, उतना साहित्यकार अन्य माध्यमों से नहीं। यही कारण है कि 'पश्चिम में सन् १९२० के बाद नाटक तथा रंगमंच के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में एक निश्चित परिवर्तन दिखाई देने लगता है। इस परिवर्तन के मूल में एक ओर प्रकृतिवादी और यथार्थवादी नाटकों की प्रतिक्रिया निहित थी, तो दूसरी ओर सिनेमा के बढ़ते हुए प्रभाव का सामना करने की प्रवृत्ति'।[2] यह परिवर्तन वस्तुतः काव्य के क्षेत्र में ही आया था। युद्ध से पूर्व के दिनों में कविता का यथार्थ-वादी धारा के प्राबल्य के कारण ह्रास हो गया था। किन्तु युद्धोत्तर साहित्य का पहला स्वर कविता की पुनः स्थापन माना जाता है। इस स्वर को मुखरित करने का श्रेय यीट्स को जाता है।[3]

---

1. Edward Albert : Spiritually the period saw the immediate post war mood of desperate gaiety and determined frivolity gave way to doubt, uncertainty of aim, and a deeper self-questioning on ethical, social and political problems.
   —A History of English Literature : pp. 509
2. डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृ० १७३
3. Edward Albert : The pre-war years had seen a relative eclipse of poetry. The demand, long expressed by Yeats, for a new and living tradition was met between the wars.
   —A History of English Literature : pp. 509

नाटक के क्षेत्र में यथार्थवादी नाट्य-धारा के स्थान पर काव्य-नाटकों का आगमन ही वास्तव में बीसवी शताब्दी की उल्लेखनीय बात है।[1] यीट्स के अतिरिक्त टी० एस० इलियट, आडेन, क्रिस्टोफर ईशरवुड, फ्राई इत्यादि कवियों ने नाटक में काव्य के समावेश पर बल दिया जिसके फलस्वरूप एक नवीन नाट्य-रूप का जन्म हुआ जिसे 'गीतिनाट्य' की संज्ञा दी गई।

गीतिनाट्य की परिभाषा

गीतिनाट्य मानव-जीवन के रागात्मक क्षणों को, स्थितियों को प्रस्तुत करता है। यह मानव-जीवन को उसके विशिष्ट रूप में प्रस्तुत करता हुआ भी विश्व-जनीन सत्य की अभिव्यक्ति करता है। गीतिनाट्य को काव्य-रूपक अथवा काव्य-नाटक भी कहा जाता है, किन्तु ये नाम गीति-नाट्य की मूल आत्मा को उसके सही रूप में प्रस्तुत करने में प्रायः असमर्थ ही प्रतीत होते हैं। गीतिनाट्य में काव्य और नाटक का सम्मिश्रण पाया जाता है। अतः यहाँ नाट्य में पाए जाने वाले काव्य-तत्त्व पर भी विचार करना समीचीन प्रतीत होता है।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है, गीतिनाट्य का उद्भव युग की परिस्थितियों के कारण ही हुआ है। काव्य के सम्बन्ध में प्रायः सभी आलोचकों तथा विद्वानों का यह कथन है कि मानव-जीवन का रागात्मक चित्रण काव्य के माध्यम से ही हो सकता है। और यही कारण है कि 'मानवीय मूल प्रवृत्तियाँ यथार्थवाद की चौहद्दी'[2] से बाहर निकल कर काव्य के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति पाने लगीं। ईलियट का भी यही कथन है कि 'जीवन के घनीभूत क्षणों की अभिव्यक्ति कविता के माध्यम से ही होती है। साथ ही कविता के माध्यम से व्यक्ति-वैशिष्ट्य के साथ-साथ विश्वजनीन अभिव्यक्ति होती है।'[3] गीतिनाट्य में जिस कविता को ग्रहण किया जाता है, उसके स्वरूप तथा समावेश के सम्बन्ध में प्रायः आलोचकों (इलियट, हैसेल आदि) का यह कथन है कि कविता मात्र अलंकरण के रूप में ग्रहण न कर, वास्तव में नाटकीय दृष्टिकोण से ग्रहण की जाती है। गीतिनाट्य में नाट्य-तत्त्व का अधिक महत्त्व है, अतः जो कविता समाविष्ट की जाती है उसका अस्तित्व नाट्य-निरपेक्ष न होकर नाट्य-तत्त्व पर ही निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में गीतिनाट्य में काव्यत्व नाट्य-तत्त्व का उप-

---

1. Edward Albert : A History of English Literature : pp. 555
2. डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृ० १७४
3. Eliot : The human soul, in intense emotion, strives to express itself in verse...The tendency, at any rate of prose drama is to emphasise the ophemeral and superficial, if we want to get at the permanent and universal we tend to express in verse.

   —A Dialogue on Dramatic Poetry : pp. 46

कारक बन कर आता है। डॉ० नगेन्द्र के मतानुसार 'गीतिनाट्य' मे नाट्य तत्त्व मुख्य होता है, नाट्य कविता में गौण। संक्षेप में गीतिनाट्य रूपक का ही एक भेद है जिसका प्राण-तत्त्व है भावना अथवा मन का संघर्ष, और माध्यम है कविता।[1]

गीतिनाट्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए क्रिस्टोफर हैसेल का कथन है कि 'गीतिनाट्य दो स्तरों पर चलता है—वह मानव जीवन को प्रस्तुत करता है, जिसे देखा जा सकता है और जिससे विश्वजनीन सत्य का उद्घाटन भी होता है।[2] बार्कर[3] ने गीतिनाट्य मे नाट्य तथा कविता दोनों को ही स्वीकृत काव्य-रूप माना है। ईलियट की गीतिनाट्य सम्बन्धी मान्यताओं पर पियर्स ने प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'ईलियट के मतानुसार गीतिनाट्य मे घनीभूत भावनाओं का आन्तरिक स्वरूप मिलता है।[4] सिज के मतानुसार नाटक मे वास्तविकता के साथ आनन्द अपेक्षित है और यही कारण है कि यथार्थवाद का ह्रास हुआ है। ये दोनों विशेषताएँ गीतिनाट्य में उपलब्ध होती है।[5] गीतिनाट्य के स्वरूप पर हिन्दी-आलोचको के मत भी उपलब्ध है। डॉ० बच्चन सिंह के मतानुसार 'गीतिनाट्य मुख्यत: भावनामय होते है, उनमें बहि: संघर्षों की अपेक्षा अन्त: सघर्षो की प्रधानता होती है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नही कि जीवन की कठोर वास्तविकताओ से उनका कोई सम्बन्ध नही जुड़ पाता।'[6] डॉ० सिद्धनाथ कुमार ने गीतिनाट्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'काव्य-नाटक काव्यत्व और रूपकत्व का संगम स्थल है। काव्य-तत्त्व और नाटक तत्त्व इसमे आकर एक ऐसे स्वरूप-विधान की सृष्टि कर देते हैं जिसमें काव्यत्व के कारण मानव-जीवन के राग तत्त्व बड़ी स्पष्टता से उभरकर आते है, भावनाएँ और अनुभूतियाँ अपनी तीव्र और वेगवती धारा में अपने साथ बहा ले जाती है। ....

1. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ६४-६५
2. कृष्ण सिंहल : हिन्दी गीतिनाट्य : पृ० १६
3. H.C. Barker : What we may justifiably call a new poetic drama freed from mere formula, equally and integerally valid both as drama & poetry. —On Poetry in Drama : pp. 13
4. T.S. Pearce : T.S Eliot : pp. 133
5. Synge : One must have reality, and one must have joy; and that is why the intellectual modern has failed...In a good play every speech should be as fully flavoured as a nut or apple, and such speeches cannot be written by anyone who works among people who have shut their lips on poetry.
—David Daiches : A Critical History of English Literature : pp. 1110
6. डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृ० १७६-७७

नाटक तत्त्व इसका बाह्य स्वरूप निर्मित करता है, काव्य तत्त्व इसमें आत्मा की स्थापना करता है।[1]

गीतिनाट्य के स्वरूप-विवेचन में यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें कविता के माध्यम से अन्तःजीवन की घनीभूत भावनाओं को नाटकीय रूप में व्यक्त किया जाता है। गीति का समावेश होने से उसमे लय का भी महत्वपूर्ण स्थान माना गया है।

तत्त्व-विश्लेषण

(क) **अन्तर्जीवन का चित्रण** : नाट्य की अन्य विधाओं से गीतिनाट्य इस रूप में भिन्न है कि इसमें बाह्य जीवन की अपेक्षा अन्तःजीवन का चित्रण होता है। व्यक्ति के अन्तःजगत की समस्याओं को, उसकी आशा-निराशाओं को, मानव-मन की गहराइयों में उतर कर उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना ही नाटककार का ध्येय होता है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि व्यक्ति के अन्तर्जगत को प्रस्तुत करते हुए भी गीति-नाट्य बहिर्जगत से सर्वथा असम्पृक्त नहीं रहता। फिर भी बाह्य-संघर्ष भी प्रायः अन्तःसंघर्ष को बल देने के लिए ही आते हैं। डा नगेन्द्र का भी यही कथन है कि 'भावना का प्राधान्य होने के कारण गीति-नाट्य में संघर्ष स्वभावतः बाह्य न होकर आन्तरिक होता है।' ....बाह्य स्थितियों का संघर्ष यदि होगा भी तो उनका प्रयोग आन्तरिक संघर्ष को तीव्रतर बनाने के लिए होगा।[2]

(ख) **वस्तु-तत्त्व** : कथानकों का चुनाव प्रायः अतीत काल के गौरवमय पृष्ठों से किया जा सकता है। इस चयन के दो कारण हो सकते हैं—(१) पहला यह कि आधुनिक काल अपने आप में उलझा हुआ होने के कारण, मूल्यो के विघटन तथा बुद्धिप्रधान होने के कारण भाव-जगत् के अधिक उपयुक्त प्रतीत नही होता। (२) दूसरा कारण, जैसा कि रोनाल्ड पीकाक[3] का कथन है कि 'पौराणिक कथाएँ' स्वभावतः गेयात्मक होने के कारण नीति-नाट्य के अधिक निकट हैं, हो सकता है।

रचना-तंत्र की दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि अन्य नाट्य-रूपों की अपेक्षा इसमें नाटककार को अधिक सावधानी बरतनी पड़ती है। इसमें शास्त्रीय बन्धनों का वह रूप नही मिलता जिसे अरस्तू ने त्रासदी के लिए अनिवार्य माना है। नाटक में काव्य के माध्यम से नाटकीय स्थितियों का सृजन करने के लिए नाटककार को काव्य तथा नाटक के उचित समावेश पर ध्यान देना होता है। संकलन-

१. श्री सिद्धनाथ कुमार : सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-नाटक : भूमिका
२. डा० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ६४, सप्तम संस्करण।
३. रोनाल्ड पीकाक : दि आर्ट आफ ड्रामा : पृ० २३४।

त्रय में केवल प्रभाव-ऐक्य ही इसमें पाया जाता है।

(ग) **चरित्र** : नाट्य के अन्य रूपों की अपेक्षा गीतिनाट्य में चरित्र-संख्या कम होती है। चरित्रांकन की दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि इन पात्रों का स्वरूप दैनिक जीवन में मिलने वाले सामान्य पात्रों से थोड़ा भिन्न होता है। प्रिसील थौलेस ने गीतिनाट्य के पात्र-सृजन के सन्दर्भ में लिखा है कि 'गीतिनाट्यकार अपने पात्रों का चयन सामान्य दैनिक जीवन से नहीं करता तथा उनका चरित्रांकन भी अपने सिद्धान्तों के आधार पर ही करता है।[१]

अन्तर्जीवन का चित्रण प्रस्तुत करने का उद्देश्य होने के कारण चरित्र के बाह्य क्रिया-कलापों का अधिक चित्रण न कर नाटककार अन्तर्जगत की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अवस्थाओं तथा स्थितियों का चित्रण करता है।

(घ) **कथोपकथन** : कथोपकथनों में अधिकांशत: पद्य का ही प्रयोग किया जाता है। जो गद्य प्रयुक्त किया जाता है वह भी काव्यात्मक ही होता है। कथोपकथनों में भी मानव-मन के संघर्ष और द्वन्द्व की अभिव्यक्ति मिलती है। इलियट के मतानुसार कथोपकथनों की सफलता इसी में है कि उनका प्रेक्षक के अचेतन मन पर अज्ञात रूप में प्रभाव पड़े।[२]

(ङ) **भाषा** : गीतिनाट्य में भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में नाटककार को अधिक सचेत होना पड़ता है। इसमें भाषा का आदर्श स्वरूप क्या हो ? इसके सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नही कहा जा सकता। किन्तु, फिर भी इलियट का यह कथन है कि 'भाषा न तो इतनी प्राचीन होनी चाहिए कि उसकी बोध-गम्यता ही संदिग्ध हो जाय और न कुछ आधुनिक फ्रांसीसी नाटककारों की भाँति वार्तालाप से मिलती-जुलती।[3]

(च) **शैली** : शैली के अन्तर्गत छन्द-योजना, बिम्ब-विधान, प्रतीक-योजना

---

1. Pri<s>cilla Thouless : Poetic drama, in which the dramatist is trying to pluck his individual from the mass, and set him against the backgrouưd of life itself. The individual is not controlled by the necessities of his environment, but by some inward law of being.

   —Modern Poetic Drama : pp. 9

2. Eliot : The chief effect of style and rhythm in dramatic speech, whether prose or verse, should be unconcious.

   —Selected Prose : 69

३. कृष्ण सिंहल : हिन्दी गीतिनाट्य : पृ० ७५

आदि को सम्मिलित किया जाता है। छन्द-योजना की दृष्टि से इसमें तुकांत तथा अतुकांत छंद के स्थान पर मुक्त छन्द पर अधिक बल दिया जाता है। मुक्त छंद का लय से स्वभावतः एक सम्बन्ध रहता है। बिम्ब-विधान गीतिनाट्य के विषय को एक ओर मूर्त बनाता है तो दूसरी ओर उसके रूप को संक्षिप्त और दीप्त। सूक्ष्म भावनाओं को स्थूल रूप में प्रस्तुत करने के लिए बिम्ब-विधान आता है। विषय-वस्तु तथा पात्रों को प्रतीकात्मक रूप से प्रस्तुत करने के लिए गीति-नाट्य में प्रतीक-योजना की जाती है।

प्रतीकात्मक नाटक का सैद्धान्तिक विवेचन

यूरोपीय साहित्य में प्रचलित प्रतीकात्मक नाटक का उद्भव वास्तव में फ्रांस के प्रतीकावादी आन्दोलन से माना जाता है। वैसे, इसका आरम्भ इब्सन के नाटकों में ही हो गया था। उसने अपने यथार्थवादी नाटकों में कुछ कमी-वेशी के साथ प्रतीकों का प्रयोग किया, जिसका आगे चलकर अन्य नाट्यकारों ने भी उपयोग किया।[१] हिन्दी में 'प्रतीकात्मक नाटक' वास्तव मे अंग्रेजी में प्रचलित 'एलेगोरिकल प्ले' का रूपान्तर है। इसके लिए विद्वानों ने अनेक नामों का उल्लेख किया है—नाट्य-रूपक, प्रतीकात्मक नाटक, अन्यापदेशिक नाटक, अध्यवसित रूपक इत्यादि।[२]

जहाँ तक इसके नामों का सम्बन्ध है, निश्चित रूप से इसे किसी एक नाम से अभिहित नही किया जा सका। 'नाट्य-रूपक' नाम पर प्रकाश डालते हुए डॉ० बच्चन सिंह का कथन है कि "इन नाटकों को नाट्य-रूपक की संज्ञा नहीं दी जा सकती, क्योंकि इनमें दो वस्तुओं में साम्य स्थापित नही किया जाता।"[3] किन्तु इसके विपरीत डॉ० नगेन्द्र इसे 'नाट्य-रूपक' ही स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि "रूपक से तात्पर्य उस कथा से है जो किन्हीं सिद्धान्त-विशेष का माध्यम बनकर हमारे सम्मुख आती है। रूपक के अमूर्त्त सिद्धान्तों में और मूर्त्त कथावस्तु में सभानान्तर चलने वाली एक साम्य-भावना होना अनिवार्य है।"[४]

जहाँ तक इसके नाम की समस्या है, इसके सम्बन्ध में यह देखा गया है कि इस नाट्य-रूप में मानवीकृत विचार और भावनाएँ होती है जिनके मूल में प्रतीक-

---

१. Upham : Ibsen cultivated more or less the use of symbolism in all his naturalistic dramas, and after him various writers gave such allegorical suggestions a much larger place.

—Typical Forms of English Literature : pp. 25

२. दे० डॉ० नगेन्द्रकृत 'आधुनिक हिन्दी नाटक', डॉ० बच्चन सिंह कृत 'हिन्दी नाटक'

३. डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृ० १६३-१६४, द्वितीय संस्करण

४. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ७३, सप्तम संस्करण।

विधान रहता है। रूपक के लिए जिस साम्य की आवश्यकता होती है वह प्रायः इसमें उपलब्ध नहीं होता। दो कथाएँ परस्पर नहीं चलतीं, इनमें प्रधान तत्त्व है प्रतीक। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों को प्रतीकात्मक रूप से अभिव्यक्त करने के कारण इनका नाम 'प्रतीकात्मक नाटक' अधिक समीचीन प्रतीत होता है।[1]

प्रतीकात्मक नाटक में जहाँ एक ओर स्थूल कथा मिलती है, वहीं प्रतीक विधान के कारण एक मुख्य कथा भी उसी के साथ जुडी होती है। रूपक के लिए जिस साम्य की आवश्यकता है, वह इसमें न भी हो तो कोई विशेष अन्तर नही पड़ता।

इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि इनकी मुख्य प्रवृत्ति होती है 'किसी दार्शनिक, सांस्कृतिक या पांडित्यपूर्ण चिन्तन के चित्रण की।'[२] एच० ए० वाट महोदय का भी यही कथन है।[3]

पश्चिम में इस नाट्य-रूप के दर्शन हमें स्पेंसर के 'फेयरी क्वीन' तथा बनयान के 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' में होते हैं।

(क) कथानक का चुनाव मानवीय भावनाओं के आधार पर किया जाता है। मानवीय गुण-दोष और मानव-चरित्र मे निहित आदिम वृत्तियों का इसमें समावेश किया जाता है, यथा—प्रेम, लालसा, कामना, महत्त्वाकाक्षा, अविवेक, गर्व, दया, आशा-निराशा इत्यादि। डॉ० नगेन्द्र के 'मतानुसार इनमे ये अन्तर्वृत्तियाँ अथवा गुण-दोष मूर्त्त रूप में, साधारण स्त्री-पुरुष के रूप मे हमारे सामने आते है।'[४]

(ख) इसके चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इसमें मानवीकृत अमूर्त्त भावनाओ का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही होता। इसके दो कारण हो सकते है: (१) भावनाओं का वास्तव में स्त्री-पुरुष न होकर मात्र प्रतीकात्मक होना। इस सम्बन्ध मे डॉ० बच्चन सिंह का

1. Watt : (Allegory) A form of verbal art in which direct narrative is used to convey through personificaton and symbolism actions, Characters, settings and ideas which the writer wishes to present indirectly.
—Dictionary of English Literature : pp. 337

२. डॉ बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृ० १६४

3. Watt : Allegories are often simple stories which convey metaphorically some spiritual or ethical ideas; such allegories are purposely didactic.
—Dictionary of English Literature : pp. 337

४. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक: पृ० ७३-७४, सप्तम संस्करण

> कथन है कि 'भावनाओं और विचारों के मानवीकरण द्वारा जो चरित्र प्रस्तुत किए जाते है उनके व्यक्तित्व इतने क्षीण और अमांसल होते हैं कि सामाजिकों के लिए वे प्रायः अनाकर्षक हो जाते है।'[1]

संक्षेप में इस नाट्य-रूप के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि नाट्यकार के जीवन-दर्शन का, उसकी मान्यताओं का स्पष्ट चित्रण हमें इसमें मिलता है। ये नाटक अधिकांश में उपदेश-प्रधान ही होते है, परन्तु किन्ही नाटकों में व्यक्तिगत, राजनीतिक अथवा साहित्यिक व्यंग्य भी मिलता है।[2] नाटककार के आरोपित जीवन-दर्शन के कारण वातावरण में एक बोझिलता का अनुभव होता है और पात्र एक सुनिश्चित लक्ष्य की ओर जाते दिखाई देते हैं। बहुत अधिक उतार-चढ़ाव इनमें नही मिलता है।

वर्गीकरण की दृष्टि से डॉ० नगेन्द्र ने इसके दो रूप स्वीकार किए हैं : (१) वह जिसमें कि अन्तर्वृत्तियाँ अथवा गुण-दोष सीधे-सादे मूर्त्त रूप में आते है तथा (२) जिसमें पात्र साधारण स्त्री-पुरुष के रूप में आते है।[3]

एकांकी-नाटक

आधुनिक जीवन व्यस्तता का जीवन है। मनोरंजन के साधनों में वृद्धि और समय की उपलब्धि में कमी ने साहित्य में लघु रूपों को जन्म दिया है। नाट्य-जगत् में यह नवीन रूप हमें एकाकी नाटक में उपलब्ध होता है।

यूरोप में एकांकी के उद्भव की रोचक कहानी है। आज से लगभग छह दशक पूर्व अंग्रेजों के प्रीतिभोजों तथा मनोरंजन के समय में पूर्व परम्परा से कुछ भिन्नता आई। प्रेक्षागृहों में पहले पहुँच जाने वाले सामाजिकों का समय काटने के लिए वास्तविक नाटक के प्रेक्षण के पूर्व एक लघु नाटक का आयोजन किया गया। इस प्रकार के लघु नाटक को 'पट-उत्थापक' कहा गया। ये पटउत्थापक इतने आकर्षक सिद्ध हुए कि सामाजिक इन्हीं को देखकर प्रेक्षागृह से चले जाते। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि लन्दन में अक्टूबर १९०३ में 'वेस्टएण्ड' थियेटर में होने वालो घटना एकांकी के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उस समय थियेटर में डब्लू-डब्लू जैकब की कहानी 'द मंकीज पा' का नाट्य-रूपान्तर पट-उत्थापक (कर्टेन रेजर) के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह प्रदर्शन इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि मूल नाटक को देखे बिना ही बहुत से दर्शक उठकर चले गए। इस प्रकार के

---

१. डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृ० १६४

२. Watt : In other allegories, however, there may lie behind the 'front' story some political, literary, or personal attack. Such allegories are satirical.

—Dictionary of English Literature : pp. 337

३. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ७३-७४

आयोजन से दो परिणाम स्पष्टतः सामने आते हैं : (क) एकांकी नाटक के अस्तित्व की स्थापना तथा (ख) रंगमंच के व्यावसायिक होने के कारण एकांकी का मंच से निष्कासन। यद्यपि एकांकी को व्यावसायिक दृष्टिकोण के कारण मंच से निष्कासित किया गया, तथापि वह अपने नवीन रूप में विकसित होता रहा। पश्चिम में इस नाट्य-रूप को विकसित करने वाले नाटककारों में जे० एम० बेरी, जी० बी० शा, लार्ड डनसेनी, सिंज, इब्सेन, टालस्टाय, चेखव इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है।

एकांकी की परिभाषा

एकांकी नाटक का ही एक विकसित रूप होते हुए भी अपनी वस्तु तथा शिल्पगत विशेषताओं के कारण उससे भिन्न भी है। एकांकी में जिस 'एक' का बोध होता है, वही उसे नाटक तथा गद्य-साहित्य की अन्य विधाओं से पृथक् करता है। एकांकी के स्वरूप पर प्रकाश डालने वाली कुछ परिभाषाओं को यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। आर० ग्रे ने इसकी स्थिति, उद्देश्य तथा प्रभाव-ऐक्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'एकांकी' नाटक एक नाटकीय स्थिति, एक उद्देश्य तथा एक ही प्रभाव की सृष्टि करता है।'[1] मार्जरी बोल्टन के मतानुसार 'अपने शुद्ध रूप मे यह २५ से ४५ मिनट की अवधि का होता है। इस प्रकार इसमें कार्य-व्यापार बहुत सघन होता है।'[2] इसी प्रकार की परिभाषा पर्सिवल वाइल्ड की है। उनका कथन है कि 'एकांकी नाटक की विशेषता उच्चकोटि की अन्विति एवं मितव्ययिता में है, यह अपेक्षाकृत कम अवधि मे अभिनीत होने के लिए होता है और होता है अपनी समग्रता में ग्रहण किए जाने के लिए।'[3]

हमारे यहाँ के विद्वानों ने भी एकांकी के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में 'स्पष्टतया एकांकी एक अंक में समाप्त होने वाला नाटक है। ....एकांकी में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर उसके एक पहलू, एक महत्त्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा एक उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा।'[4] एकांकी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए डॉ० ओझा का कथन है कि 'जो नाटक एक अंक में समाप्त होने वाला, एक सुनिश्चित लक्ष्य वाला, एक ही घटना, एक ही परिस्थिति और एक ही समस्या वाला हो, जिसके प्रवेश में कौतूहल और वेग, गति में विद्युत-सी वक्रता और तेजी, विकास में एकाग्रता और आकस्मिकता के साथ

1. R. Gray : A one act play deals with a single dramatic situation, and aims to produce but one effect.
—One Act Plays of Today : Introduction
२. डॉ० सिद्धनाथ कुमार : हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास : पृ० ३२
३. वही, पृ० २२
४. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० १२८

चरम सीमा तक पहुँचने की व्यग्रता हो .... उसे एकांकी कहना चाहिए।'[१] एकांकी के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए डॉ० रामकुमार वर्मा का कथन है कि 'जब समस्त जीवन के विस्तृत भाग की उपेक्षा कर उसके एक भाग या एक भावना के चित्रण की आवश्यकता पड़ती है तो एकांकी नाटक की रचना की जाती है।'[२]

एकांकी की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि एकांकी में मानव-जीवन के किसी एक पक्ष, एक भाव, एक कार्य, एक विषय को प्रस्तुत किया जाता है। इसमें शिल्प की दृष्टि से सघनता और अन्विति होती है, जिससे यह प्रेक्षकों की सहानुभूति को प्राप्त कर लेता है।

तत्त्व-विश्लेषण

(१) **कथानक**—सामान्य रूप से कथानक का अभिप्राय घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्ध से प्रस्तुत किया जाना, माना जाता है। जहाँ तक कथानक के चयन का प्रश्न है, एकांकीकार जीवन के किसी भी क्षेत्र से इसका संकलन कर सकता है, यथा—इतिहास, पुराण, समाज तथा मानवीय भावनाएँ इत्यादि। इसमें केवल एक ही घटना तथा एक ही कथानक होता है। आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथाएँ इसमें नहीं मिलतीं। इसका कारण यह है कि एकाकी का ढांचा लघुकाय होने के कारण आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथाओं का भार वहन नहीं कर सकता। इसका रचना-विधान भी नाटक के रचना विधान से भिन्न है। सामान्यत: कथानक-विकास के तीन सोपान होते हैं: प्रारम्भ, मध्य और अन्त। इसका प्रारम्भ प्रायः किसी पूर्व-घटित घटना के पश्चात् होता है। इससे इसमें नाटकीयता आ जाती है। साथ ही, प्रारम्भ में ही एकांकीकार संघर्ष के मूल बिन्दु का पता भी यहीं दे देता है। मध्य भाग में संघर्ष का विकास होता है, किन्तु चरमोत्कर्ष की ओर भी प्रायः कथानक चला जाता है। अन्त मे चरमोत्कर्ष आता है। वास्तव मे, एकाकी मे अन्त और चरमोत्कर्ष एक साथ ही आते है। कथानक के गुणों में कौतूहल, एकाग्रता, निरन्तर उत्तेजना तथा उद्देश्योन्मुखता आदि होते है।[३]

(२) **पात्र**—संख्या की दृष्टि से एकाकी में अधिक-से-अधिक चार-पाँच पात्र

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० ३२१-२२

२. डॉ० रामकुमार वर्मा : एकांकी कला : पृ० ४८

३. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश : पृ० २२८

होते है, किन्तु प्रमुखता केवल एक ही पात्र की होती है।[1] चरित्रांकन की दृष्टि से भी इसमें चरित्र के किसी एक विशेष पक्ष, अथवा चरित्र की किसी एक विशेष मानसिक परिस्थिति का चित्रण किया जाता है। डॉ० सिद्धनाथ कुमार के शब्दों में 'एकांकी में चरित्र के विकास या परिवर्तन के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता, पर बहुधा ऐसा होता है कि एकांकी के समाप्त होते-होते किसी पात्र के चरित्र का कोई नया पहलू चमक उठता है।'[2]

(३) **संवाद**—डॉ० रामकुमार वर्मा ने कथोपकथन को एकांकी की आत्मा स्वीकार किया है।[3] प्रयोजन की दृष्टि से एकांकी मे संवादों की योजना तीन दृष्टियों से की जाती है :—

(क) चरित्र का उद्‌घाटन
(ख) कथा का विकास
(ग) दूसरे चरित्र पर प्रकाश डालना।

एकांकी के संक्षिप्त कलेवर में संवादों का भी संक्षिप्त, मर्मस्पर्शी, त्वरित तथा प्रभावोत्पादक होना आवश्यक माना गया है।

(४) **देश-काल**—वास्तविकता और यथार्थता के लिए यह आवश्यक माना जाता है कि जिस देश-काल से घटना तथा पात्रों का सम्बन्ध है, उसकी आवश्यक जानकारी एकांकीकार अपने प्रेक्षकों को दे। इस तत्त्व को 'नाटक के दृश्य विधान में, पात्रों की वेश-भूषा, रहन-सहन, व्यवहार, संलाप-शैली आदि सभी बातों में इसे देखा जा सकता है।'[4]

(५) **रंगसंकेत**—नाटक मूलतः अभिनय की वस्तु है अतः आज का एकांकी-कार उसके रंगमंचीय पक्ष को ध्यान में रखकर अभिनेताओं तथा निदे-शकों की सुविधा के लिए लम्बे-लम्बे रंगसकेत देता है।

(६) **भाषा-शैली**—एकांकी का सम्बन्ध सीधे रूप में प्रेक्षकों से होता है, अतः उसे उसी प्रकार की भाषा प्रयुक्त करनी पड़ती है जो कि सामान्य प्रेक्षक उसी स्थल पर मस्तिष्क पर बोझ डाले बिना समझ जाए।

---

१. Gray : In a one act play there is only main character. The other serve as foils, to portray opposite traits and view points. —One Act Plays of Today : pp. Introduction.
२. डॉ० सिद्धनाथ कुमार : हिन्दी एकांकी की शिल्पविधि का विकास : पृ० ७१
३. डॉ० रामकुमार वर्मा : एकांकी कला : पृ० २०
४. डॉ० सिद्धनाथ कुमार : हिन्दी एकांकी की शिल्पविधि का विकास : पृ० ७६

: ३ :

प्रसाद-रचित त्रासदियाँ

आधुनिक हिन्दी नाटक का उद्भव भारतेन्दु युग से स्वीकार किया जाता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आगमन के समय हिन्दी नाट्य-साहित्य में दो धाराएँ विद्यमान थीं। परम्परा की दृष्टि से एक ओर संस्कृत नाट्य-साहित्य था और दूसरी ओर पाश्चात्य सम्पर्क के कारण नवीन अंग्रेजी नाटक-साहित्य। भारतेन्दु जी ने इन दोनों धाराओं से प्रभावित होते हुए भी नाटकों में संस्कृत नाट्य-शास्त्र के रूढ़िग्रस्त रूप को स्वीकार नही किया। डॉ० विश्वनाथ मिश्र[1] के शब्दों में 'भारतेन्दु जी ने संस्कृत नाट्य-शास्त्र तथा पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों, दोनों का ही अच्छा अध्ययन किया था, किन्तु इनमें पश्चिम की नाट्यकला को वे अधिक समयानुकूल तथा उपयोगी समझते थे।' यही कारण है कि समय की माँग को पहचानने वाले भारतेन्दु जी ने नवीन ढंग से नाट्य-रचना करने का उपक्रम किया।

भारतेन्दु जी ने यद्यपि अपने नाटकों के निर्माण में पूर्वी तथा पश्चिमी नाट्य-शैलियाँ को ग्रहण किया है, किन्तु समग्र रूप में रूप-रचना की दृष्टि से देखने पर भारतेन्दु-युगीन नाटकों के सम्बन्ध मे डॉ० शान्तिगोपाल पुरोहित का यह कथन सत्य ही है कि 'भारतेन्दु युग तक हिन्दी नाटक-साहित्य कभी संस्कृत-नाट्य-शैली को अपनाता था तो कभी वह जन-नाट्य-शैली का अनुसरण करता था। उसी काल तक वह अंग्रेजी से भी थोड़ा परिचय प्राप्त कर चुका था।'[2] उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी नाटक-साहित्य में प्रसाद जी के आगमन से पूर्व ही एक ओर संस्कृत नाट्य-शिल्प की धारा, जो कि मूलतः शास्त्रीय थी, तथा दूसरी ओर पश्चिमी नाट्य-शिल्प की धारा हिन्दी नाट्य-जगत् में प्रवेश कर चुकी थी। भारतेन्दु जी ने ही इस नवीन धारा को सर्वप्रथम अपने नाटकों में स्थान दिया।

हिन्दी नाट्य-साहित्य में प्रसाद जी के नाटक विषय तथा शिल्प की दृष्टि से नवीनता और प्रौढ़ता का संचार करते है। प्रसाद जी को परम्परा से दो धाराएँ मिलीं— शास्त्रीय नियमों को प्रतिपादित करने वाली सस्कृत नाट्य-शिल्प की धारा तथा शेक्स-पियर की स्वच्छन्दतावादी धारा। संस्कृत के शास्त्रीय नियमों से परे जाने की प्रवृत्ति वैसे तो भारतेन्दु जी में ही परिलक्षित होने लगी थी, परन्तु नवीन धारा को सम्यक् रूप से, प्राचीन काल से चली आती शास्त्रीय धारा से समन्वित करने का श्रेय प्रसाद जी

---

१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० ६६

२. डा० शान्ति गोपाल पुरोहित : हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन : पृ० ६७

को ही जाता है। प्रसाद जी पर केवल स्वच्छन्दतावादी नाटककारों का ही प्रभाव नही पड़ा, अपितु आधुनिक युग के बुद्धिवादी नाटककारों का प्रभाव भी प्रतीत होता है। डा० विश्वनाथ मिश्र 'ध्रुवस्वामिनी' पर आधुनिक बुद्धिवादी नाटककारों का प्रभाव भी मानते हैं।[1]

प्रसाद जी मूलतः रसवादी कवि तथा नाटककार थे। अपनी इसी रसवादी प्रवृत्ति के कारण उन्होने शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावाद के प्रभाव को व्यापक रूप में अपनाते हुए भी, प्राचीन संस्कृत नाट्य-शिल्प को भी यथासम्भव ग्रहण किया है। उन्होंने एक कुशल नाटककार की भाँति संस्कृत नाटकों से रस और पाश्चात्य नाटकों से संघर्ष तथा व्यक्ति-वैचित्र्यवाद को ग्रहण किया है। उनके इस समन्वय से जिस शिल्प का उद्‌भव हुआ, उसे आलोचकों ने पूर्ण रूप से नवीन शिल्प स्वीकार किया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का इस सम्बन्ध मे यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि 'प्रसाद जी ने नाट्य-क्षेत्र में नाटक को नए चरित्र, नई घटनाएँ, नया ऐतिहासिक देशकाल, नया आलाप-संलाप, संक्षेप में नया समारम्भ दिया। हिन्दी नाटकों मे नया युग-प्रवर्तन होने लगा।[2] डॉ० ओझा ने प्रसाद जी की नाट्य-शैली को इसी कारण समन्वयात्मक शैली माना है।[3] उनकी इसी समन्वयात्मक शैली का यह फल हुआ है कि वे भारतीय नाट्य-विधान से अन्ततः सुखान्त होते हुए भी वास्तव में सुखान्त नहीं होते। आचार्य डॉ० नगेन्द्र ने इस सम्बन्ध में, जिज्ञासा की परितृप्ति हेतु, समस्या पर पूर्ण प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'उनके नाटक सभी सुखान्त है, परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है ? नहीं। नाटक के ऊपर दुःख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह में छिपी हुई मिलती है।'[4]

वास्तव में प्रसाद जी के व्यक्तित्व में जो करुणा का अंश बहुत गहरे उतर चुका था। उसी का यह परिणाम है कि उनके नाटकों में नायक भौतिक सुखों को प्राप्त करने के उपरान्त भी, अपने व्यक्तिगत जीवन में गहन अन्धकार, विषाद तथा नैराश्य का अनुभव करता है। प्रसाद जी के 'कामना' और 'एक घूँट' नाटक को छोड़कर शेष सभी नाटक ऐतिहासिक नाटक हैं। इनमें से भी 'प्रायश्चित', 'विशाख', 'राज्यश्री', 'अजात शत्रु' तथा 'स्कन्दगुप्त' नाटक मे प्रसाद जी ने जीवन के गम्भीर तथा दु.खमय पक्ष का चित्रण किया है। रूप-रचना तथा प्रभाव की दृष्टि से इन नाटकों में प्रसाद जी का ध्येय पाठक की संवेदना तथा करुणा को जाग्रत करना ही है। इन नाटकों में नायक तथा नायिकाएँ वास्तव में पाठक की करुणा को उद्‌बुद्ध करने मे बहुत सफल

---

१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २६५
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न : पृ० १५६
३. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० २१४
४. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० १०६

रहे हैं। 'प्रायश्चित' को छोड़कर किसी भी नाटक में नायक-नायिका की मृत्यु न दिखाने पर भी इन नाटकों में त्रासद-तत्त्वों की अधिकता के कारण, इन्हें 'त्रासदी' के अन्तर्गत रखा गया है।

शिल्प की दृष्टि से प्रसाद जी ने यद्यपि स्वच्छन्दतावादी नाट्य-शिल्प को ही अपनाया है, किन्तु अपनी नाट्य-कृतियों में उन्होंने शास्त्रीय बन्धनों को भी यत्र-तत्र स्थान दिया है। प्रस्तुत अध्ययन में संस्कृत के शास्त्रीय नाट्य-शिल्प के साथ-साथ शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावादी नाट्य-शिल्प को 'प्रसाद' जी ने अपनी नाट्य-कृतियों में कहाँ तक स्थान दिया है, यही अन्वेक्षण हमारा अभीष्ट है।

शेक्सपियर की भाँति प्रसाद जी ने भी अपनी त्रासदियों का प्रतिपाद्य इतिहास रखा है। स्वच्छन्दतावादी कलाकार का रोमांटिक होना अत्यन्त स्वाभाविक है और वर्तमान की अपेक्षा अतीत की ओर जाना उसकी विशिष्टता। प्रसाद जी भी मूलतः रोमांटिक कवि तथा नाटककार होने के कारण यदि अतीत की ओर मुड़े हैं तो कोई आश्चर्य की बात नही। वास्तव में प्रसाद जी का ऐतिहासिक नाटकों के प्रणयन का एक स्पष्ट उद्देश्य था। 'विशाख' के प्रथम संस्करण की भूमिका में इस पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि 'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है। ······ क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें हमें पूर्ण सन्देह है।'[1] अतः प्रसाद जी की ऐतिहासिक स्वच्छन्दतावादी त्रासदियों का उद्देश्य है वर्तमान अवस्था का उन्नयन। इसके लिए प्रसाद जी ने महाभारत काल से लेकर हर्षवर्धन काल तक की घटनाओं को अपने नाटकों में स्थान दिया है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रसाद जी मूलतः छायावादी रोमांटिक कवि होने के कारण स्वभाव से ही बन्धनों के विरोधी रहे है। नाट्य-जगत् में शास्त्रीय नियमों को यत्र-तत्र स्वीकार करते हुए भी उनके नाटकों में स्वच्छन्दतावाद को ही प्रमुख रूप से स्थान मिला है। शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावाद को ही प्रमुख रूप से स्थान मिला है। शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावादी नाटकों की भाँति प्रसाद जी ने भी अपने नाटकों में वातावरण की भावुकता, चरित्रों का वैचित्र्य, घटनाओं का घात-प्रतिघात, कथानक की विशृंखलता को प्रस्तुत किया है।[2] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में 'उनके नाटकों में घटनाओं के आकर्षण की अपेक्षा चरित्र की विविधता और उनकी मनोभावनाओं का उन्मेष और प्रदर्शन अधिक है।'[3]

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २३५ से उद्धृत

२. डॉ० श्रीपति शर्मा : हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० १२६, १४१

३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य : नये प्रश्न : पृ० १५७

अब प्रसाद जी की नाट्य-कृतियों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

प्रायश्चित

इसका प्रकाशन 'इन्दु' पत्रिका में सन् १९१४ में पहले हुआ था।[१] बाद में इसे 'चित्राधार' में संकलित कर लिया गया।

वस्तुतत्त्व

प्रतिकार एवं विद्वेष के कारण कन्नौज नरेश जयचन्द अपने जामाता दिल्ली नरेश पृथ्वीराज पर विदेशी आक्रमणकारी मुहम्मद गौरी की सहायता से आक्रमण कर युद्ध में पृथ्वीराज को मार देता है। पृथ्वीराज की हत्या के साथ ही संयोगिता भी रणभूमि में ही सती हो जाती है। जयचन्द अपनी पुत्री की मृत्यु से अनभिज्ञ अहंकार-पूर्वक श्मशान में प्रवेश कर पृथ्वीराज की मृत्यु पर अट्टहासपूर्ण ढंग से हँसता है। दो विद्याधरियाँ जयचन्द से उसके इस कृत्य पर प्रायश्चित कराने के विचार से अन्तरिक्ष से जयचन्द को यह बताती है कि पृथ्वीराज की राख में ही संयोगिता की राख भी मिली हुई है। यह जानकर कि अपनी पुत्री का हत्यारा वह स्वयं है, जयचन्द में खिन्नता भर जाती है। विद्याधरियाँ उसे देश-द्रोह के प्रायश्चित-स्वरूप आत्मदाह के लिए प्रेरित करती है। जयचन्द विक्षिप्त अवस्था में ही रणभूमि से लौट आता है। इतने में ही जयचन्द का मन्त्री यह सूचना देता है कि मुहम्मद गौरी की सेना कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए दुर्ग की ओर बढ़ रही है। जयचन्द युद्ध करने की अपेक्षा राज्य-भार अपने पुत्र तथा मन्त्री पर छोड़कर प्रायश्चित करने के लिए गंगा की ओर अपने गज पर आरोहण करता है तथा अन्ततः गंगा में कूदकर अपने पाप का प्रायश्चित करता है।

कथानक का चयन इतिहास की किंवदंती के आधार पर किया गया है। किन्तु इसका निर्माण करने में प्रसाद जी ने इतिहास की अपेक्षा कल्पना से अधिक सहायता ली है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि इसमें जयचन्द और मुहम्मद गौरी दोनों ही ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, किन्तु कथा में जिन घटनाओं को स्थान दिया गया है वे अनैतिहासिक हैं, यथा—जयचन्द का रणभूमि में ही आहत अवस्था में तड़पना तथा विद्याधरियों द्वारा जयचन्द से प्रायश्चित कराने का विचार, पृथ्वीराज तथा संयोगिता का रणभूमि में दाह-संस्कार तथा अन्त में जयचन्द का गंगा में कूदना। वास्तव में नाटक में इन काल्पनिक घटनाओं को ही प्रमुख स्थान मिला है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से इसे 'मिश्र' कथानक की संज्ञा दी जा सकती है।

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : प्रसाद की नाट्यकृतियों का काल-क्रम से उद्धृत।

इस नाटक में वास्तव में कोई कथा नहीं, केवल कुछ घटनाएं हैं, जिन्हें क्रमबद्ध रूप से नियोजित कर दिया गया है। अतः वस्तु-विन्यास में नाटककार को कोई कौशल दिखाने का अवसर ही नहीं मिला है।[1] इस एकांकी नाटक में 'दृश्य' तत्त्व कम और 'सूच्य' तत्त्व अधिक है। दूसरे शब्दों में, रंगमंच पर वास्तव में घटनाएँ घटती नहीं, अपितु विद्याधरियों द्वारा सूचित की गई है। यथा—पृथ्वीराज तथा जयचन्द के युद्ध के उपरान्त पृथ्वीराज की मृत्यु की सूचना विद्याधरियों के निम्न वार्तालाप मे दी गई है :—

'दू०—'हा! तुझसे क्या कहें, और तुझे इतना भी नहीं ज्ञात है कि हिन्दू-साम्राज्य-सूर्य्य इसी रण-भूमि-अस्ताचल मे डूबा है। चौहान-कुल-भूषण पृथ्वीराज का इस युद्ध में सर्व्वस्वान्त हुआ।'[2]

इसी प्रकार द्वितीय दृश्य में 'आकाश से' संयोगिता की मृत्यु की भी सूचना दी गई है।[3] अतः यहाँ प्रसाद जी ने भारतीय नाट्य-विधान को स्वीकार किया है। वस्तु-विन्यास मे ही हमे नवीनता का रूप मिलने लगता है। अरस्तू ने त्रासदी के कथानक में 'अभिज्ञान' और 'स्थिति-विपर्यय' दो अंगों का उल्लेख किया है। इन दोनों से कथानक मे नाटकीयता आती है। 'प्रायश्चित' में भी इन दोनो का थोड़ा-बहुत रूप मिलता है। पंचम दृश्य में 'अभिज्ञान' और 'स्थिति-विपर्यय' अपने संयुक्त रूप में उस स्थल पर आती है, जहाँ संयोगिता की मूर्ति जयचन्द के नेत्रो के सम्मुख आ जाती है और उसे अपने प्रायश्चित का ज्ञान होता है। इसी प्रायश्चित के ज्ञान के कारण ही जयचन्द के इस कथन : '(आकाश की ओर) देखो, देखो, वह कौन मूर्ति है। हाँ-हाँ, देवी! क्रुद्ध न हो, मैं अवश्य प्रायश्चित करूँगा। लो मैं जाता हूं।'[4] से स्थिति में परिवर्तन हो जाता है।

इस त्रासदी में वस्तु-विन्यास सम्बन्धी अन्य कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। वास्तव में स्वच्छन्दतावादी नाटककार कथानक की अपेक्षा चरित्र पर अधिक बल देता है।

चरित्र

'प्रायश्चित' त्रासदी एक चरित्र प्रधान नाटक होते हुए भी केवल जयचन्द के चरित्र को ही प्रस्तुत करती है। जयचन्द के अतिरिक्त इस नाटक मे पृथ्वीराज तथा संयोगिता का केवल नामोल्लेख है। दो विद्याधरियाँ भी है, जो प्रथम अंक के पश्चात् अन्तरिक्ष मे चली जाती है। मुहम्मद गौरी केवल चतुर्थ दृश्य मे ही सामने आता है।

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ४
२. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : प्रथम दृश्य : पृ० ८९
३. जयशंकर प्रसाद . प्रायश्चित : द्वितीय दृश्य : पृ० ९१
४. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : पंचम दृश्य : पृ० ९७

इस प्रकार मुख्य रूप से जयचन्द ही इस त्रासदी में ग्राद्यन्त उपस्थित रहता है। जयचन्द के चरित्र के विविध पक्षों को प्रस्तुत करना ही नाटककार का लक्ष्य रहा है। कथानक की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व देना नाटककार पर शास्त्रीय-विधान की अपेक्षा स्वच्छन्दतावादी प्रभाव को सिद्ध करता है। यहाँ डॉ० प्रेमदत्त शर्मा द्वारा 'प्रायश्चित' के चरित्रांकन पर लगाए गए इस आक्षेप पर भी विचार करना समीचीन प्रतीत होता है जिसमें उनका कथन है कि 'घटनाओं की प्रधानता रहने से पात्रों का चरित्र उभरने नही पाया।'[1] डॉ० शर्मा का उक्त कथन हमें स्वीकार्य नहीं है। वास्तव में यदि देखा जाए तो इस नाटक में कोई भी घटना घटती नहीं, केवल नाटककार ने भारतीय परम्परा के अनुरूप उनकी सूचना मात्र दी है। अतः कथानक का अधिकांश भाग 'सूच्य' के अन्तर्गत आता है, जिससे घटनाओं की प्रधानता स्वयमेव ही घट जाती है। इसके विपरीत नाटककार का ध्यान चरित्र-चित्रण पर अधिक गया है। इसमें जयचन्द की विभिन्न मनोदशाओं—गर्व, आशा-निराशा, ग्लानि आदि का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया गया है।

इसका कोई नायक है अथवा नही? इसके सम्बन्ध में आलोचक मौन है। नाटक का मुख्य पात्र होने तथा सम्पूर्ण कार्य-व्यापार का केन्द्र-बिन्दु होने के कारण जयचन्द ही इस नाटक का नायक स्वीकार किया जा सकता है। चरित्र के निर्माण में प्रसाद जी ने पाश्चात्य त्रासदी के नायक की भाँति जयचन्द का चरित्र-निर्माण किया है। पारम्परिक किंवदंतियों में जयचन्द को देश-द्रोही तथा घृणा का पात्र माना जाता रहा है। जयचन्द का देश-द्रोह उसके आचरण की एक भूल थी, जिसका प्राय-श्चित वह आत्म-हत्या द्वारा करता है, ऐसा चित्र प्रस्तुत कर प्रसाद जी ने जयचन्द के प्रति पाठकों की सहानुभूति जाग्रत कर, मानसिक वातावरण मे विषाद उत्पन्न कर, त्रासदी की रचना की है। ऐतिहासिक नाटककार की भाँति प्रसाद जी ने जयचन्द के व्यक्तित्व में राष्ट्रीय संघर्ष प्रस्तुत किया है। डॉ० वेदपाल खन्ना 'विमल' ने प्रसाद जी के चरित्र-चित्रण पर यह आक्षेप लगाया है कि 'पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण जो कि आज के समस्या नाटकों में विशेष रूप से पाया जाता है, प्रसाद के नाटकों में यथेष्ट मात्रा में नहीं मिलता।'[2] डॉ० 'विमल' का यह आक्षेप नितान्त आधारहीन है। अन्य नाटकों (अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त इत्यादि) को यदि छोड़ भी दिया जाए तो उनका यह कथन तो भी सत्य प्रतीत नहीं होता। वास्तव में पात्रों के मनोवैज्ञा-निक चरित्रांकन की प्रवृत्ति हमें 'प्रायश्चित' से ही मिलने लगती है। जयचन्द का चरित्रांकन मनोवैज्ञानिक ढंग पर ही किया गया है। जयचन्द का प्रथम रूप घोर अहंकारी का रूप है, जिसमें वह 'पिशाचों की क्रीड़ा'[3] देखता है। परन्तु ज्यों-ज्यों

---

१. डॉ० प्रेमदत्त शर्मा : प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ० ५०
२. डॉ० वेदपाल खन्ना 'विमल' : हिन्दी नाटक का साहित्य आलोचनात्मक अध्ययन : पृ० १६६
३. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : द्वितीय दृश्य : पृ० ६१

उसे वस्तु-स्थिति का यथार्थ ज्ञान होता जाता है, उसके चरित्र में भी परिवर्तन होता जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि अपने ही हाथों अपनी प्रियवस्तु का विनाश करने पर व्यक्ति में आत्मग्लानि उत्पन्न होती है। ठीक यही स्थिति जयचन्द की है। यह जानने पर कि संयोगिता की मृत्यु का कारण वह स्वयं है, जयचन्द पश्चात्ताप स्वर में कहता है :

"हाय, संयोगिते ! मैंने तुझे कुछ भी सुख न दिया। अपने स्वार्थ के लिए, अपनी जिज्ञासावृत्ति की तृप्ति के लिए, अपने पाले हुए हरिणशावक पर ही शर संधान किया।"[1]

पाषाण-हृदय जयचन्द में भी मानवता का संचार होता है। उसके नेत्रों के सम्मुख ही संयोगिता की मूर्ति आ जाती है। वास्तव मे यह संयोगिता की मूर्ति और कुछ नही, उसके मानसिक द्वन्द्व का ही चित्र है। इसी मानसिक द्वन्द्व में जयचन्द अर्द्धविक्षिप्त अवस्था तक पहुँच जाता है और अन्ततः विवेकहीन होकर देशद्रोह के प्रायश्चित स्वरूप आत्महत्या करता है।

संवाद-योजना

प्रारम्भिक कृति होने के कारण इसमें संवाद अत्यन्त संक्षिप्त हैं। संवादों का प्रधान गुण कथा का विकास करना माना गया है, जो कि इस कृति में विद्यमान है। प्रथम दृश्य से एक उद्धरण प्रस्तुत किया जाता है :

दू०—"विलासिनी ! तुझे तो अपने गन्धमादन-विलास से छुट्टी ही नहीं। क्या मालूम कि संसार में क्या हो रहा है ?"

प०—"मुझे तो सचमुच इधर का हाल कुछ भी नहीं मालूम। हाँ री सखी ! भला यह सब क्या हुआ है ?[2]

'प्रायश्चित' से पूर्व 'सज्जन' नाटक में प्रसाद जी ने संवादों में जिस पद्यात्मकता को रखा था, उसे आलोचकों ने प्रसाद जी की कला का एक दोष माना था। किन्तु यह दोष 'प्रायश्चित' के संवादों में नहीं मिलता है। इस नाटक में प्रसाद जी भारतेन्दु युग के प्रभाव से अपने को मुक्त कर सके है। डा० ओझा के शब्दों में 'यहीं से प्रसाद जी के नाटकों में पद्यात्मक कथोपकथन का पूर्णतया तिरोभाव हो गया है।"[3]

प्रसाद जी नाटककार के अतिरिक्त एक गहन तत्त्व-चिन्तक भी थे। अपने इसी चिन्तक रूप को उन्होंने अपने पात्रों में भी ढाला है। ऐसे स्थल जहाँ पात्र किसी विषय पर चिन्तन-मनन करने लगते हैं, नाटकीयता की दृष्टि से बोझिल जान पड़ते हैं। 'प्रसाद' जी की यह प्रवृत्ति उनके प्रौढ़ नाटकों में अधिक है, परन्तु इसका थोड़ा-

---

१. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : द्वितीय दृश्य : पृ० ६२

२. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : प्रथम दृश्य : पृ० ८६

३. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २१४

बहुत आभास 'प्रायश्चित' में भी मिलता है। विद्याधरी का निम्न कथन अन्य कथनों की अपेक्षा दीर्घकाय तथा नाटक की स्वाभाविक गति में बाधा डालने वाला है :

"जिस दिन से कोई जाति, अपने आत्मगौरव का अपने शत्रु से बदला लेना भूल जाती है, उसी दिन से उसका मरण होता है। तब, जब अपने व्यक्तिगत सम्मान की रक्षा करते हैं, तब उस समष्टि रूपी जाति या समाज की रक्षा स्वयं हो जाती है......"[१]

संवाद में इस प्रकार की विचारात्मकता जहाँ एक ओर नाटक की गति में बाधा डालती है, वहीं दूसरी ओर नाटककार की बौद्धिकता का भी परिष्कार करती है। इस दिशा मे प्रसाद जी पर अरस्तू का प्रभाव परिलक्षित होता है। अरस्तू ने 'विचार-तत्त्व' को त्रासदी के एक तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया है।

प्रसाद जी पर भारतेन्दु जी का प्रभाव इस कृति के निर्माण तक भी अस्पष्ट रूप में रह गया प्रतीत होता है। संवादों मे इसका रूप देखने को मिलता है, जिसका आगे चलकर प्रसाद जी ने पूर्ण रूप से त्याग कर दिया है। तृतीय दृश्य में जयचन्द और उसके मंत्री के वार्तालाप में मंत्री का निम्न कथन :

'सो तो हुआ महाराज'[२]

इसी प्रकार का है।

भाषा-शैली

इस नाटक का महत्त्व भाषा-प्रयोग में विशेष प्रकार का माध्यम अपनाने के कारण भी है। इसमें जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह एक परीक्षण मात्र ही है। इस सम्बन्ध में डा० ओझा का कथन है कि 'प्रसाद जी ने इस नाटक मे दो नवीनताएँ परीक्षण के लिए अवश्य जोड़ दी हैं। .... पात्रों की भाषा में सामाजिक स्थिति के अनुकूल परिवर्तन।'[३] वास्तव में यह 'परीक्षण' ही है, क्योकि स्वयं प्रसाद जी ने नाटक में भाषा की स्वतंत्रता को स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'आज यदि कोई मुगलकालीन नाटक में लखनवी उर्दू मुगलों से बुलवाता है, तो वह भी स्वाभाविक या वास्तविक नहीं है। ....भाषा की एकतन्त्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिन्दी-नाटको के लिए ठीक नहीं।'[४] आश्चर्य है कि प्रसाद जी ने स्वयं जिस बात का विरोध किया, उसी को उन्होंने अपने नाटक में स्थान दिया। यह विषमता केवल इसी नाटक मे है। आगे चलकर प्रसाद जी ने 'स्वतंत्रता' की रक्षा की है।

---

१. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : प्रथम दृश्य : पृ० ६०
२. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : तृतीय दृश्य : पृ ६३
३. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० २१४
४. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० १०७

प्रसाद जी की भाषा प्रारम्भ से ही साहित्यिक तथा अलंकृत रही है। इसका उत्तरोत्तर विकास उनके नाटकों में होता गया है। वास्तव में प्रसाद जी की शैली मूलतः काव्यात्मक है। स्वच्छन्दतावादी नाट्य-शिल्प को ग्रहण करने के कारण उनके नाटकों में यथार्थ की अपेक्षा कल्पना तथा भावुकता का प्राधान्य है। प्रारम्भिक कृति होने के कारण 'प्रायश्चित' में इसकी स्फुट रूप में ही अभिव्यक्ति हो सकी है। विद्या-धरियों के वार्तालाप में साहित्यिक तथा अलंकृत भाषा का प्रयोग किया गया है :

"प्रतिहिंसा आत्मसम्मान और दुर्दमनीय वृत्ति के वशीभूत होकर यह सब हुआ है।"[१]

इस नाटक में कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास मे त्रुटियाँ हैं। इसका कारण भाषा पर भारतेन्दु-युगीन नाटकों का प्रभाव हो सकता है। यथा—

"इस चाण्डाल से कुछ प्रायश्चित **कराया चाहती** हूँ।"[२]

"वह झंझट नही **बढ़ाया चाहता**।"[३]

"महाराज, **सावधान हूजिए,** बड़ा विषम समय है।"[४]

इस नाटक की एक विशेषता है पात्रों की सामाजिक स्थिति के अनुरूप भाषा का प्रयोग।[५] चतुर्थ दृश्य मे दिल्ली दरबार मे मुहम्मद गौरी और दरबारियो की भाषा में उर्दू फारसी के शब्दों के अतिरिक्त उसी ढंग का वाक्य-विन्यास भी प्रयुक्त किया गया है :

'हकीकत में वह शख्स काबिल तारीफ था और मुसलमानों को भी वैसा ही मजहब का पक्का होना चाहिए।'[६]

रस-योजना

इस संक्षिप्त नाटक में रस के समस्त अवयव नहीं मिलते। गम्भीर त्रासदी होने के कारण इसमें करुण रस मिलता है। सभी भौतिक सुखों को छोड़कर जयचन्द विरक्त होकर आत्महत्या करता है, अतः इसका स्थायी भाव शोक है।

नाट्य-रूप

अन्त में इसके रूप-विधान पर भी विचार करना समीचीन है। शिल्प की दृष्टि से यह एक अंक का एकांकी ही है, जिसमें छः दृश्य है। अपनी आत्मा की दृष्टि से यह त्रासदी के अधिक निकट है। इसका प्रारम्भ भारतीय ढंग पर न होकर पश्चिमी ढंग

---

१. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : प्रथम दृश्य : पृ० ९०

२. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : प्रथम दृश्य : पृ० ९१

३. वही, तृतीय दृश्य : पृ० ९३

४. वही, पृ० ९४

५. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ०६

६. जयशंकर प्रसाद : प्रायश्चित : चतुर्थ दृश्य : पृ० ९५

पर हुआ है। इसके प्रारम्भ में न तो नान्दी है और न अन्त में भरतवाक्य। इसके विपरीत इसका आरम्भ शेक्सपियरीय त्रासदी के ढंग पर हुआ है। इसका आरम्भ ही भयावह वातावरण को चित्रित करता है, यथा—'समय-रात्रि, स्थान-कगार, नदी का किनारा-रणभूमि।' इसके अतिरिक्त प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही विद्याधरियों का प्रवेश 'मेकबेथ' के वियर्ड सिस्टर्स' के अनुरूप है।[1] सम्पूर्ण द्वितीय दृश्य में जिस 'आकाशवाणी' का प्रयोग किया गया है वह भी पाश्चात्य नाट्य-शिल्प के कारण है। भारतीय नाट्य-विधान में 'आकाश भाषित' प्रयोग मिलता है, किन्तु वहाँ केवल एक ही पात्र होता है, जो स्वयं ही प्रश्नोत्तर प्रस्तुत करता है। किन्तु यहाँ 'आकाश से' अमानवीय शाक्त नायक का भाग्य उसी प्रकार परिवर्तित कर देती है, जिस प्रकार 'मैकबेथ' में बैंकों की प्रेतात्मा।[2] डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने इस 'आकाशवाणी' को नाटक में अनावश्यक माना है।[3] वास्तव में इस 'आकाशवाणी' के तत्त्व को प्रसाद जी ने पश्चिमी प्रभाव-स्वरूप ही ग्रहण किया है। द्वितीय अंक के अन्त में जयचन्द का मूच्छित होकर मंच पर गिरना तथा नाटक मे पृथ्वीराज की मृत्यु, जयचन्द की आत्महत्या, जयद्रथ का श्मशान में अट्टहास संयोगिता की प्रेतात्मा की झलक इसे त्रासदी ही सिद्ध करते है।[4]

अतः इस नाट्य-कृति में 'प्रसाद' जी ने भारतीय नाट्य-शिल्प की अपेक्षा अधिकांशतः शेक्सपियरीय त्रासदी के तत्त्वों को ही ग्रहण किया है। यह सत्य है कि प्रारम्भिक कृति होने के कारण इसमें त्रासदी के उपयुक्त गम्भीर वातावरण का निर्माण करने में प्रसाद जी सफल नही हो पाए है। उसका कारण यह हो सकता है कि चरित्र को विकसित करने तथा उसको बहुमुखी बनाने वाली घटनाओं का इसमें अभाव है। भारतीय शिल्प-विधान केवल वस्तु तथा पात्रों के चयन तक ही सीमित है। कथा का रूप, चरित्र का निर्माण तथा समग्र प्रभाव पश्चिमी शिल्प-विधान के अनुरूप ही है।

राज्यश्री

'राज्यश्री' प्रसाद जी का प्रथम ऐतिहासिक रूपक है। 'राज्यश्री' के 'प्राक्कथन' में प्रसाद जी ने लिखा है कि 'इस प्रकार से मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक समझता हूँ।'[5] इसे पहले 'इंदु' में सन् १९१५ में प्रकाशित किया गया था और फिर 'चित्राधार' में संकलित किया गया। 'चित्राधार' में वह 'पुनर्मुद्रित हुआ'। इसके आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'राज्यश्री' के दो संस्करण लेखक ने प्रकाशित किए और दोनों संस्करणों में पर्याप्त भिन्नता है। इस सम्बन्ध में प्रसाद-साहित्य के

---

१. डॉ० श्रीपति शर्मा : हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० १३१
२. परमेश्वरी लाल गुप्त : प्रसाद के नाटक : पृ० ११
३. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ६
४. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २१७
५. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : प्राक्कथन : पृ० ८

मर्मज्ञ आलोचक डा० ओझा एव डा० शर्मा के मत विचारणीय हैं। डा० ओझा का यह कथन है कि 'प्रथम संस्करण परीक्षण-काल की नाटिका-शैली पर लिखा गया है, किन्तु द्वितीय संस्करण परवर्ती नाटकों से अधिक मिलता है। प्रथम संस्करण में नान्दीपाठ और भरतवाक्य है, किन्तु दूसरे में इनका बहिष्कार है।'[1] इसी आधार पर डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि 'राज्यश्री' के दोनों संस्करणों में आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई देता है।'[2] वास्तव मे पहले, जैसा कि स्वयं प्रसाद जी ने लिखा है, इसे एक विशुद्ध ऐतिहासिक नाटक के रूप में लिखा गया था। किन्तु बाद में स्वच्छन्दतावादी प्रभाव के कारण इसमें कुछ परिवर्तन किए गए। किन्तु वे परिवर्तन नाटक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा वातावरण को और भी आकर्षक तथा ग्राह्य बनाने के लिए किए गए थे। अतः डा० ओझा के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'राज्यश्री' मे प्रसाद की दृष्टि इसके नाटकत्व के साथ-साथ ऐतिहासिकता की ओर भी मुख्य रूप से रही है।[3]

वस्तुतत्त्व

'राज्यश्री' नाटक मुख्य रूप से कन्नौज तथा स्थाण्वीश्वर की घटनाओं को लेकर निर्मित किया गया है। नाटक का प्रारम्भ भिक्षु शांतिदेव तथा सुरमा मालिन के प्रणयालाप से कन्नौज में होता है। सुरमा शांतिदेव पर आसक्त है और भिक्षु शांतिदेव ग्रहवर्मा की रूपवती पत्नी राज्यश्री पर। सुरमा द्वारा प्रणय-भिक्षा माँगने पर भी वह निश्चित रूप से कुछ प्रत्युत्तर नहीं दे पाता। उसके जाने के पश्चात् मालव-नरेश देवगुप्त सुरमा की आन्तरिक इच्छा को जानकर अपने षड्यन्त्र में उसे सम्मिलित कर लेता है। कन्नौज में छद्मवेश में, सुरमा के उपवन में रहते हुए, कन्नौज-नरेश ग्रहवर्मा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर लेता है। इधर सीमाप्रांत पर देवगुप्त का सेनापति वीरसेन ससैन्य मृगया खेलने गए हुए ग्रहवर्मा पर आक्रमण करता है और उधर कन्नौज में ही देवगुप्त अपने गुप्तचरों को तथा सैनिकों को छद्मवेशों में छोड़ देता है। सुरमा पर भी देवगुप्त अपना वास्तविक रूप प्रकट कर देता है और महत्त्वाकांक्षा से भरी हुई सुरमा देवगुप्त के साथ मालव चलने को उद्यत होती है। इतने में ही यह सूचना मिलती है कि स्थाण्वीश्वर के प्रभाकर वर्धन का निधन हो गया है और राज्यवर्धन पंचनद में हूणों के विरुद्ध लड़ने के लिए गए हैं। कन्नौज की आन्तरिक सुरक्षा के लिए थोड़ी-सी सेना को छोड़कर शेष सेना सीमाप्रांत के युद्ध के लिए गई हुई थी। इस अवसर का लाभ उठाकर देवगुप्त साधारण जनता के साथ छद्मवेश में प्रासाद में प्रवेश कर दुर्ग-रक्षकों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इसी बीच

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २१६

२. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १३

३. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २१६

में राज्यश्री को भी वह पकड़ लेता है।

इधर स्थाण्वीश्वर ग्रहवर्मा की सहायता के लिए सेनापति भण्डि को भेजते हैं। भण्डि के साथ ही गौड़राज नरेन्द्रगुप्त भी सहायता के लिए आते है। शांतिभिक्षु सुरमा के न मिलने पर भिक्षु बनकर भण्डि की सहायता करने का आश्वासन देकर पंचनद गुल्म में प्रविष्ट हो जाता है। दुर्ग मे देवगुप्त का पूर्ण अधिकार हो जाता है। देवगुप्त राज्यश्री का प्रणय-प्राप्त करने पर असफल रहता है। इस पर सखियो सहित राज्यश्री को बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया जाता है। राज्यश्री का पता लगाता हुआ विकटघोष मधुकर से सुरमा के विद्यमान होने की बात भी जान लेता है। एक ओर से सुरमा और दूसरी ओर से राज्यश्री का देवगुप्त के चंगुल से छुटकारा करा विकटघोष दुर्ग से बाहर चला जाता है। इधर राज्यवर्धन की सेना भी कन्नौज दुर्ग में पहुँच जाती है और राज्यवर्धन के साथ युद्ध करते हुए देवगुप्त का वध हो जाता है।

विकटघोष और सुरमा के पुनः सम्मिलन से कथा में नवीन मोड़ आता है। राज्यवर्धन के सहायक गौड़राज नरेन्द्रगुप्त ही उसके शत्रु हो जाते है और विकटघोष से उसकी हत्या करा देते है। वन मे राज्यश्री को भी वास्तविक स्थिति का ज्ञान हो जाता है कि वह दस्युओं के चंगुल में है। दस्यु राज्यश्री से धन माँगते है। इतने में महात्मा दिवाकर मित्र आकर यह सूचना देते है कि रेवातट पर हर्षवर्धन तथा चालुक्य नरेश पुलकेशिन का युद्ध हो रहा है। आश्रम में पहुँचकर सती धर्म का पालन करने के लिए राज्यश्री चिता में प्रवेश करने ही लगती है कि उसे हर्षवर्धन के आगमन की सूचना मिलती है। हर्षवर्धन की प्रार्थना पर राज्यश्री सती होने का विचार त्याग देती है। राज्यश्री तथा हर्षवर्धन दोनों ही लोकसेवा का व्रत धारण कर सर्वस्व दान करने का महोत्सव आयोजित करते है। विकटघोष तथा सुरमा भी दान के लिए प्रयाग आते है। विकटघोष हर्षवर्धन की हत्या के प्रयास में पकड़ लिया जाता है। दान के महोत्सव पर राज्यश्री की प्रेरणा से विकटघोष तथा सुरमा को भी प्राण-दान दिया जाता है। पश्चात्ताप-स्वरूप वे दोनों भी काषाय धारण कर लेते है। अन्त में कुमारराजा के अनुरोध पर 'धर्मराज का शासन करने के लिए' हर्षवर्धन राजमुकुट और दण्ड ग्रहण करते हैं।

'राज्यश्री' ऐतिहासिक नाटक होने के कारण घटनाओ तथा चरित्रों के निर्माण में इतिहास के बन्धनों के घेरे में ही रहा है। इसका कथानक प्रसाद जी ने इतिहास से ग्रहण किया है। इस सम्बन्ध में 'राज्यश्री' के 'प्राक्कथन' मे उनका कथन है कि 'राज्यश्री और हर्षवर्धन से सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं का आधार हर्षवर्धन के राजकवि बाण का बनाया हुआ हर्ष चरित और चीनी यात्री सुएनच्वांग का वर्णन है।'[1] अतः इसका कथानक 'ख्यातकृत' के अन्तर्गत ही आता है। इतिहास को

---

१. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : प्राक्कथन : पृ० ५

ग्राधारभूत सामग्री स्वीकार करते हुए भी प्रसाद जी ने इस नाटक में कल्पना का कुछ ग्राश्रय भी लिया है। विकटघोष तथा सुरमा ग्रनैतिहासिक पात्र हैं।[1] ग्रत: इन दोनों से सम्बद्ध सभी घटनाएँ काल्पनिक हैं। ऐसा जान पड़ता है कि राज्यश्री के प्रथम संस्करण का रूप विशुद्ध ऐतिहासिक था किन्तु दूसरे संस्करण में 'प्रसाद' ने शांतिदेव ग्रौर सुरमा की प्रेम कल्पित कहानी जोड़कर इसे दूसरा रूप दे दिया। यद्यपि ये घटनाएँ काल्पनिक है, तथापि इनका उद्देश्य ऐतिहासिक घटनाग्रों तथा पात्रों का रूप ग्रधिक विश्वसनीय ग्रौर ग्राकर्षक बनाना रहा है। इसके ग्रतिरिक्त वस्तु में दो कथाग्रों का संयोजन 'प्रसाद' पर स्वच्छन्दतावादी प्रभाव भी सिद्ध करता है।

प्रसाद जी ने इस नाटक में प्रधान रूप से ऐतिहासिक इतिवृत्त—जिसे शास्त्रीय शब्दावली में 'ग्राधिकारिक वस्तु' कहा जा सकता है—राज्यश्री, हर्षवर्धन, ग्रहवर्मा तथा देवगुप्त के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इस ग्राधिकारिक कथा के साथ-साथ प्रासंगिक कथा में विकटघोष तथा सुरमा का प्रसग तथा ग्रन्य ग्रन्तर्कथाग्रों के रूप में सुरमा तथा देवगुप्त का सम्बन्ध, नरेन्द्रगुप्त, राज्यवर्धन, सुएनच्वांग इत्यादि का वर्णन। ग्राधिकारिक कथावस्तु का सम्बन्ध वास्तव मे फल के ग्रधिकारी से होता है। इस नाटक का उद्देश्य यदि एक ग्रोर हर्षवर्धन के शब्दों में 'कान्यकुब्ज के सिंहासन पर वर्धन-वंश की एक बालिका उर्जस्वित शासन कर सकती है' यह सिद्ध करता है तो दूसरी ग्रोर प्रसाद जी के शब्दों में 'इस रूपक का उद्देश्य है राज्यश्री का चरित्र-चित्रण।'[2] वास्तव में नाटक के ग्रन्त को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि समस्त ग्राक्रमणकारियों तथा विरोधियों को परास्त कर हर्षवर्धन कान्यकुब्ज पर राज्यश्री का ग्रखण्ड शासन स्थापित कर देते है। परन्तु जहाँ तक राज्यश्री के चरित्र का सम्बन्ध है, वह सभी भौतिक सुखों को प्राप्त करके भी स्वेच्छा से उनका दान कर देती है।

प्रसाद जी का इस नाटक को चरित्र प्रधान मानना ही यह स्पष्ट कर देता है कि शास्त्रीय परम्परा के प्रतिकूल, उन्होंने कथानक के स्थान पर चरित्र को महत्त्व दिया है। संस्कृत नाट्याचार्यो का यह कथन है कि सूच्य घटनाग्रों को निम्न कोटि के पात्र सूचित करते हैं। उसी के ग्रनुरूप प्रसाद जी ने प्रथम ग्रंक में दूत द्वारा स्थाण्वीश्वर में प्रभाकर वर्धन की मृत्यु तथा राज्यवर्धन का हूणों को परास्त कराने के लिए पंचनद जाना सूचित किया है।[3] इसी प्रकार प्रथम ग्रंक के छठे दृश्य में चर द्वारा देवगुप्त को सीमाप्रांत के युद्ध की सफलता तथा ग्रहवर्मा के चोट लगने की सूचना दी गई है। इसी प्रकार राज्यवर्धन की हत्या[4] तथा हर्षवर्धन की हत्या के प्रयास की भी

१. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : प्राक्कथन : पृ० ८
२. वही
३. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : प्रथम ग्रंक : पृ० २४
४. वही : तृतीय ग्रंक : पृ० ६१

सूचना ही दी गई है।[1] इस प्रकार नाटक की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की मात्र सूचना ही दी गई है। इसका कारण यही है कि नाटककार अपना अधिक-से-अधिक ध्यान राज्यश्री के चरित्र पर केन्द्रित करना चाहता है। डॉ० शर्मा का यह अभिमत उचित ही है कि 'इस नाटक में राज्यश्री के जीवन का बड़ा अंश लिया गया है। यह अंश घटनाओं से पूर्ण है और एक-एक घटना महत्त्वपूर्ण है।'[2]

कथानक के रचनातंत्र में प्रसाद जी संस्कृत के शास्त्रीय नाट्य-शिल्प की अपेक्षा शेक्सपियरीय त्रासदी के रचनातंत्र से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। उसका कारण यह है कि इस नाटक में घटनाओं की अभिव्यक्ति स्वच्छन्दतावादी ढंग पर हुई है। ऐतिहासिक घटनाओं को अधिकांश में सूचित कर दिया गया है और इसके विपरीत विकटघोष तथा सुरमा के प्रेम कथानक को अधिक-से-अधिक चित्रित किया गया है। आधिकारिक कथानक के साथ-साथ प्रासंगिक कथानक को भी महत्त्व देना स्वच्छन्दतावादी त्रासदी की विशेषता है। इस सम्बन्ध में डॉ० विश्वनाथ मिश्र का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि 'एक साधारण मालिन का एक राजपुरुष से परिणय, लेखक की स्वच्छन्द प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति है।'[3]

वस्तु-विकास में प्रसाद जी ने भारतीय कार्यावस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों की अपेक्षा पाश्चात्य संघर्ष तत्त्व को इस नाटक में स्थान दिया है। कथा का विकास घटनाओं के निरन्तर घात-प्रतिघात तथा परस्पर संघर्ष से होता है। शेक्सपियर के ऐतिहासिक नाटकों के समान ही इसमें भी षड्यन्त्रों को ही आद्यन्त स्थान मिला है। संघर्ष का प्रारम्भ प्रथम अंक के चौथे दृश्य से ही हो जाता है:

'दूत—युद्ध की आशंका है। मालवेश्वर की सीमा हमारी सीमा से मिली हुई है। अकारण उनकी सेना आजकल सीमा पर एकत्र होने लगी है...।'[4]

इसी प्रकार शांति भिक्षु तथा सुरमा के षड्यन्त्र एक ओर जहाँ नवीन संघर्षों को जन्म देते हैं वहीं राजनीतिक क्षेत्र में उथल-पुथल उत्पन्न कर देते हैं। विकटघोष भण्डि की सेना में मिलकर सुरमा तथा राज्यश्री को छुड़ाता है। गौड़ राजा नरेन्द्र गुप्त के साथ षड्यन्त्र में मिलकर वह राज्यवर्धन की हत्या करता है। अतः अन्य ऐतिहासिक नाटकों के समान ही इस नाटक में भी, डॉ० ओझा के शब्दों में 'राजकीय उथल-पुथल और उत्क्रान्ति की कहानी है। षड्यन्त्र, विद्रोह, रक्तपात तथा संघर्ष इसमें भी विद्यमान है।[5] इस प्रकार विद्रोह से इस नाटक का प्रारम्भ होता है और आद्यंत इसमें वही भाव पाया जाता है। डा० शर्मा का इस सम्बन्ध में यह कथन सत्य

---

१. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : चतुर्थ अंक : पृ० ७२
२. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १६
३. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २१८
४. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : प्रथम अंक : पृ० १६
५. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २१७

ही है कि 'नाटक का प्रारम्भ विरोध से हुआ और अन्त तक विरोध-ही-विरोध चलता रहा। विरोध ही इस रूपक का व्यापक भाव है।'[1]

स्वच्छन्दतावादी शिल्प ग्रहण करते हुए भी प्रसाद जी ने कहीं-कहीं अरस्तू प्रतिपादित शास्त्रीय नियमों को भी अपने नाटक में स्थान दिया है। 'राज्यश्री' के कथानक में शास्त्रीय त्रासदी के अनुरूप 'अभिज्ञान' तथा 'स्थिति-विपर्यय' भी कथानक में मिलता है। इसका रूप तीसरे अंक के पाँचवें दृश्य में उस स्थल पर दिखाई पड़ता है जब राज्यश्री सती-धर्म का पालन करने के लिए चिता में प्रवेश करने को उद्यत होती है कि उसी समय उसे यह सूचना मिलती है कि 'सम्राट् हर्षवर्धन आ रहे हैं'। इस अभिज्ञान से वह चिता से पृथक् हो जाती है और इसी के साथ हर्षवर्धन के निम्न कथन से स्थिति-विपर्यय भी हो जाता है :

'हर्ष०—आर्यं ! मुझे भी काषाय दीजिए।'

राज्य०—(चिता से हट आती है) भाई ! तुम भी······! नही, ऐसा नहीं होगा। मैं तुम्हारे लिए जीवित रहूँगी।'[2]

अतः कथानक के रचना-तंत्र में प्रसाद जी पाश्चात्य शिल्प से ही अधिक प्रभावित रहे है। कतिपय आलोचकों ने इसके कथानक पर आक्षेप भी लगाए है। इसकी नाटकीयता पर आक्षेप लगाते हुए कहा गया है कि इसमें घटनाओं को न तो विशेष विस्तार दिया गया है और न ही उनका इस प्रकार गुम्फन किया गया है, जिससे कथा में नाटकीयता आ सके। डा० शर्मा के मतानुसार 'इस संस्करण में जो चतुर्थ अंश का नवीन आयोजन किया गया है, नाटकीय सौन्दर्य के विचार से, उसका विशेष महत्त्व नहीं है।[3] इन आक्षेपों के उत्तर में हमारा विनम्र निवेदन है कि यह नाटक स्वच्छन्दतावादी शैली के अनुरूप होने के कारण चरित्र को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। नाटक के अन्तिम अंक में सभी विरोधों का शमन तथा राज्यश्री और हर्षवर्धन के चरित्र की पूर्णता परिलक्षित होती है। अतः इस दृष्टिकोण से देखने पर कथानक पर लगाए गए दोष समीचीन प्रतीत नहीं होते।

चरित्र

'राज्यश्री' नाटक स्वच्छन्दतावादी त्रासदी के अनुरूप चरित्र को प्रधानता प्रदान करता है। अन्य पात्रों की अपेक्षा, इसमें राज्यश्री का ही चरित्रांकन करना, नाटककार का उद्देश्य रहा है। राज्यश्री ही मुख्य तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र होने के कारण, शास्त्रीय शब्दावली में 'नायक' पद अर्थात् प्रमुख पात्र की अधिकारिणी है। अतः इस नाटक को नायिका-प्रधान नाटक माना जा सकता है। डा० शर्मा के

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन :पृ० २०
२. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : तृतीय अंक : पृ० ६५
३. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २४

शब्दों में 'इसको समस्त घटना-चक्र का केन्द्र कहना चाहिए। ग्रन्थ में जिस व्यापक विप्लवों का उल्लेख है उन सबके मूल में यही राज्यश्री है।[१] राज्यश्री के अतिरिक्त इस त्रासदी में मुख्य रूप से दो पात्र आए हैं, जिनका चरित्रांकन नाटककार ने मनोयोगपूर्वक किया है। शांतिभिक्षु (विकटघोष) तथा सुरमा। अन्य पुरुष तथा स्त्री-पात्रों मे राज्यवर्धन, हर्षवर्धन, देवगुप्त तथा राज्यश्री की सखियाँ अमला, कमला तथा विमला इत्यादि है। इस नाटक मे प्रसाद जी ने समग्र रूप से तेरह पुरुष-पात्रों तथा छः स्त्री-पात्रों को प्रस्तुत किया है। पुरुष-पात्रों में शातिभिक्षु (विकटघोष) तथा स्त्री-पात्रो में सुरमा काल्पनिक पात्र है। राज्यश्री को छोड़कर सम्पूर्ण नाटक में इन्हीं दो काल्पनिक चरित्रों को प्रस्तुत किया गया है। अन्य पात्रों के चरित्र को नाटककार ने केवल कुछ संकेत रेखाओं द्वारा प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि आलोचकों ने यह आक्षेप लगाया है कि 'राज्यश्री नाटक घटना-प्रधान है। यही कारण है कि इसमें चरित्रगत विशेषताएँ नहीं मिलतीं।'[२] डा० शर्मा का आक्षेप पूर्णतया स्वीकार्य नहीं है। जैसा कि पहले कहा गया है, इसमें मुख्य रूप से राज्यश्री तथा गौणरूप से विकटघोष तथा सुरमा का चरित्र प्रस्तुत करना ही नाटककार का उद्देश्य रहा है। शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि इस ऐतिहासिक त्रासदी मे नायक, प्रतिनायक तथा नायिका की सृष्टि उस रूप में नही की गई है, जिस रूप में संस्कृत के नाट्यधर्मी नाटकों की।

राज्यश्री—राज्यश्री नाटक की प्रधान पात्र है तथा सम्पूर्ण फल की अधिकारिणी है। राज्यश्री के चरित्रांकन में प्रसाद जी ने भारतीय दृष्टिकोण के साथ-साथ स्वच्छन्दतावादी नाट्य-शिल्प को भी अपनाया है। भारतीय नाट्य-शिल्प में नायिका की भी सामान्यतः वे ही विशेषताएँ गिनाई गई हैं जो नायक की। राज्यश्री प्रथम दर्शन में एक आदर्श पत्नी के रूप में चित्रित की गई है। इस रूप में वह पतिपरायणा, स्नेह-शीला और विचारवती पत्नी है।[३] ग्रहवर्मा को चिंतित देखकर वह कहती है :

'राज्य०—नाथ, आप जैसे वीर पुरुषों को—जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शांत है—क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती हैं? कभी नहीं।'[४]

इसी प्रकार राज्यश्री एक वीर क्षत्राणी के रूप में उस समय हमारे सम्मुख आती है, जब वह सीमाप्रांत पर युद्ध होने का समाचार सुनकर कहती है :

'क्षत्राणी के लिए इससे बढ़कर शुभ समाचार कौन होगा। आप प्रबन्ध कीजिए,

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्री अध्ययन : पृ० १८

२. वही, पृ० २१

३. वही, पृ० २१

४. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : प्रथम अंक : पृ० १४

मैं निर्भय हूँ।'[1]

भारतीय शिल्प-विधान के अनुरूप ही राज्यश्री के चरित्र की कोमलता दान-शीलता तथा क्षमा-प्रदान करने की प्रवृत्ति इस नाटक में मिलती है। किन्तु वास्तव में इस त्रासदी में राज्यश्री की करुणामयी कथा कहना ही प्रसाद जी को अभीष्ट रहा है। राज्यश्री आद्यन्त लोकसेवा करती हुई भी, अपने व्यक्तिगत जीवन में विषमताओं को सहती है, बड़ी-से-बड़ी आपदाओं का सामना करती है और अन्ततः हमारी करुणा तथा सहानुभूति को उद्वेलित करती है। त्रासदी में नायक अपनी आचरण-सम्बन्धी किसी भूल के कारण निरन्तर विपदाओं में ग्रस्त होता जाता है। राज्यश्री भी अपनी आचरणगत भूलों के कारण सम्पन्नता से विपन्नता की ओर उन्मुख होती है। उदाहरणार्थ, जिस समय देवगुप्त कान्यकुब्ज के दुर्ग पर विजय प्राप्त कर लेता है, उस समय मंत्री के परामर्श देने पर भी राज्यश्री दुर्ग से बाहर नहीं जाती। फलतः देवगुप्त द्वारा बन्दी बना ली जाती है। इसी प्रकार की आचरण-सम्बन्धी भूल वह उस समय करती है जबकि विकटघोष के कहने पर वह एक साधारण बालिका के समान उस पर विश्वास कर जंगल में चली जाती है। वास्तव में, इस प्रकार की भूलों के कारण ही वह निरन्तर आपदाओं से ग्रस्त होती चली जाती है। राज्यश्री का चरित्र उस समय अत्यन्त कारुणिक बन जाता है, जिस समय एक महारानी के मुख से ये शब्द निकलते है:

'मैं दुःखी हूँ, दस्यु! तुम धन चाहते हो, पर वह मेरे पास नहीं। इस विस्तीर्ण विश्व में सुख मेरे लिए नहीं, पर जीवन? आह! जितनी साँसें चलनी हैं, वे तो चलकर ही रुकेंगी।'[2]

इसके अतिरिक्त राज्यश्री के चरित्र में मानवीय दुर्बलताएँ भी हैं। मन्दिर में पति की मंगल-कामना के समय अट्टहास को सुनकर राज्यश्री का मूर्च्छित होना तथा तत्पश्चात् मूर्च्छा के कारण मानसिक आघात होना प्रसाद पर पाश्चात्य प्रभाव सिद्ध करता है। डा० शर्मा ने इस प्रकार के चरित्रांकन को स्वाभाविक एवं सन्तोषप्रद स्वीकार नहीं किया है।[3] डा० शर्मा का यह आक्षेप 'प्रसाद' के नाटकों को मात्र शास्त्रीय दृष्टि से देखने के कारण है। पात्रों में जिस शील-वैचित्र्य को प्रसाद जी ने भरा है, यह प्रतिक्रिया उसके अनुकूल ही है।

राज्यश्री आद्यन्त कठिनाइयों को सहती हुई भी अन्ततः लोकसेवा ही करती है। इसी से वह हमारी श्रद्धा की पात्र बन जाती है।

इस त्रासदी में प्रसाद जी ने संस्कृत नाट्य-विधान के अनुरूप ही अमला, कमला तथा बिमला को नायिका की सहायिकाओं के रूप में चित्रित किया है। ये

१. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : प्रथम अंक : पृ० २३
२. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : तृतीय अंक : पृ० ५४
३. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २१

सहायिकाएँ भी विवेकशील है। विपत्ति के दिनों में राज्यश्री को सान्त्वना देती है।

मालवराज देवगुप्त के सहचर मधुकर का चरित्र इस नाटक में कुछ इस प्रकार से चित्रित किया गया है कि वह विदूषक जान पड़ता है। मधुकर का विदूषकत्व दूसरे अंक से पाँचवे दृश्य मे विकटघोष के साथ वार्तालाप में प्रकट होता है।[१] किन्तु इससे पूर्व मधुकर देवगुप्त के परामर्शदाता के रूप में दिखाया गया है। विदूषक के परम्परागत रूप मे जो परिवर्तन किया गया है उसका भी मुख्य कारण है पाश्चात्य शिल्प-विधान की ग्राह्यता।

शांतिदेव (विकटघोष)—शांतिदेव इस नाटक का कल्पित पात्र है। इसका चरित्राकन पूर्णरूप से स्वच्छन्दतावादी ढंग पर हुआ है। आद्यन्त संघर्ष तथा विरोध को जन्म देने वाले इस पात्र में अन्तर्द्वन्द्व का प्राधान्य है। जीवन का प्रारम्भ ही अनिश्चित स्थितियों मे करने वाला यह पात्र अपनी परिस्थितियो से प्रभावित भी होता है और नई घटनाओं को जन्म भी देता है। उसके चरित्र में दो विरोधी विचार धाराएँ विद्यमान हैं: बलात लादा गया संन्यास तथा विलासी जीवन-यापन की महत्त्वाकांक्षा। इन दोनों विभिन्न विचारधाराओं के कारण उसके जीवन में अनिश्चितता, संघर्ष तथा असन्तोष का जन्म होता है। दूसरे अंक के आरम्भ मे वह अपने जीवन पर विचार करता हुआ कहता है:

'मैं संसार से अलग किया गया था—किसलिए? पिता ने मुझे भिक्षु-संघ मे समर्पण किया था—क्या इसलिए कि मैं धार्मिक जीवन व्यतीत करूँ?'[२]

इसी प्रकार की चरित्र की द्विविधात्मक प्रवृत्ति के कारण ही वह कर्मक्षेत्र में भिक्षु शांतिदेव से दस्युपति विकटघोष बन जाता है। इस पात्र का चरित्र आद्योपान्त पतनोन्मुख रहा है। इस पात्र के सम्बन्ध में डॉ० शर्मा का कथन है कि 'इस प्रकार के अस्थिर बुद्धि के मनुष्य का जीवन और भविष्य कितना अन्धकारपूर्ण तथा समाज के लिए कितना घातक हो सकता है—इसी का चित्रण विकटघोष के रूप मे हुआ।'[३] अन्त में इस-पात्र का पर्यवसान जिस रूप में हुआ है वह बहुत स्वाभाविक जान नहीं पड़ता। निरन्तर पतन की ओर जाने वाले पात्र का बिना किसी पूर्व प्रक्रिया के सुधार आक्षेप का विषय है। प्रो० 'शिलीमुख' का सन्देह है कि 'विकटघोष और सुरमा किस प्रकार एकदम से राज्यश्री और हर्ष के सामने लाए जाकर अपने दुष्कृत्यों का दण्ड माँगने लगते हैं……… यह समझ मे नहीं आता।'[४] इसके मूल में भारतीय आदर्शवाद की भावना हो सकती है।

सुरमा—'यौवन, स्वास्थ्य और सौन्दर्य की छलकती हुई प्याली' सुरमा एक

---

१. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : द्वितीय अंक : पृ० ३१-४०
२. वही : द्वितीय अंक : पृ० ३०
३. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ३१
४. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० १५१

साधारण मालिन होते हुए भी नाटक मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। महत्त्वाकाक्षा ही उसके जीवन की मूल प्रेरक शक्ति है। अपने नित्यप्रति के सामान्य जीवन से असन्तुष्ट होकर वह शांतिदेव से कहती है :

'मैं आजीवन किसी राजा की विलास-मालिका बनाती रहूँ—ऐसा मेरा अदृष्ट कहे, तो भी मै मान लेने मे असमर्थ हूँ। मेरे प्राणों की भूख, आँखों की प्यास, तुम न मिटाओगे[1] ?'

उसकी इसी 'महत्त्वाकांक्षा, आतुरता और चंचलता ने उसका जीवन उच्छृंखल बना दिया'[2] देवगुप्त के साथ वह इसी आशा पर चलती है कि मालव में उसे वैभव मिलेगा। देवगुप्त के यहाँ रहते हुए वह एक विलासिनी के रूप मे आती है। परिस्थितियों से दुर्बल हृदय चरित्र कितना प्रभावित हो सकता है, इसका चित्रण सुरमा के माध्यम से किया गया है। विकटघोष के साथ पतन की चरम सीमा तक जाने वाली सुरमा के चरित्र मे उतार-चढ़ाव दिखाते हुए भी अन्त मे सुरमा का, आदर्शवाद से प्रेरित होकर 'प्रसाद' जी ने सुधार दिखाया है।

संवाद-योजना

कुछ स्थलों को छोड़कर 'राज्यश्री' के कथोपकथन सोद्देश्य है। सुरमा तथा शांतिभिक्षु के संवाद उनके चरित्र पर प्रकाश भी डालते हैं तथा कथन का आगे विकास भी करते हैं। राज्यश्री तथा ग्रहवर्मा के संवादों में विचारात्मकता भी मिलती है, किन्तु यह सन्दर्भ तथा परिवेश से सम्बद्ध होने के कारण बोझिल नहीं लगती। राज्यश्री का निम्न कथन संक्षिप्त तथा सामान्य शब्दावली में होता हुआ भी अर्थ-गाम्भीर्य से युक्त है :

'सुखी मनुष्य ! तुम मरने से इतना डरते हो। भग्न हृदयों से पूछो—वे मृत्यु की कैसी सुखद कल्पना करते हैं।'[3]

संवाद-योजना में जो सबसे अधिक खटकने वाली बात है, वह है स्वगत-भाषण का प्रयोग। इस नाटक में जितने भी स्थानों पर स्वगत का प्रयोग है, वह प्राचीन संस्कृत नाट्य-विधान के आधार पर ही है। पाश्चात्य शिल्प से परिचित होते हुए भी नाटककार शास्त्रीय नियमों से पूर्ण रूप से मुक्त नही हो सका है। पाश्चात्य-शिल्प के अन्तर्गत 'स्वगत' का वहीं प्रयोग होता है, जहाँ पात्र अपनी मानसिक ग्रंथियों को खोलता है। किन्तु इस नाटक में अनेक स्थलों पर अन्य पात्रों की उपस्थिति मे एक पात्र स्वगत-भाषण करता जाता है। प्रथम अंक में देवगुप्त और सुरमा के कथोपकथन मे देवगुप्त की उपस्थिति में ही सुरमा का 'स्वगत'—'यह कैसा विलक्षण पुरुष

---

१. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : प्रथम अंक : पृ० ११
२. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ३४
३. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : द्वितीय अंक : पृ० ४७

हैं तथा देवगुप्त का भी वहीं यह स्वगत-कथन 'कितनी भावनामयी' यह युवती है, शिल्प का दोष ही है। वास्तव में डा० विश्वनाथ मिश्र का यह कथन सत्य ही है कि संस्कृत नाट्यशास्त्र की छाप इस नाटक पर बहुत गहरी है, और उसने लेखक की स्वच्छन्दतावादी वृत्ति एवं पाश्चात्य नाट्य-तत्त्व के ग्रहण की प्रवृत्ति को बहुत बाधित किया है।'[1] इसके अतिरिक्त अन्य परवर्ती नाटकों के समान ही इसमें भी कहीं-कहीं संवाद दीर्घ हो गए हैं। डा० ओझा का यह मत बिल्कुल समीचीन है कि 'प्रसाद जी के इस प्रथम ऐतिहासिक नाटक में उनके शेष ऐतिहासिक नाटकों की प्रायः समस्त विशेषताएँ बीच रूप से विद्यमान हैं।'[2] दीर्घकाय संवादों के उदाहरण हमें द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में शांतिदेव के कथन 'मैं संसार से अलग किया गया था' में, इसी अंक के सातवें दृश्य में नरदत्त के इस कथन 'कौन न कहेगा कि महत्त्वशाली व्यक्तियों के सौभाग्य-अभिनय में धूर्तता का बहुत हाथ होता है' में उपलब्ध होता है।

भाषा-शैली

स्वच्छन्दतावादी शिल्प अपनाने के कारण प्रसाद के नाटकों में भावुकता का प्राधान्य तथा कवित्व का साम्राज्य है। शेक्सपियर से प्रभावित होने के कारण उनकी भाषा में यथार्थवादिता नहीं, काव्यात्मकता तथा अलंकरण है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इनकी शैली पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'शैली और वस्तु दोनों में प्रसाद जी के नाटकों में काव्यत्व दृष्टिगोचर होता है। उनकी शैली काव्यात्मक है।'[3] इस प्रकार की काव्यात्मकता राज्यश्री के कथनों में ही नहीं विकटघोष जैसे दस्यु की भाषा में भी मिलती है। राज्यश्री का निम्न कथन हृदय के तारों को झंकृत कर देता है:

"अस्त होते हुए अभिमानी भास्कर से पूछो—वह समुद्र में गिरने को कितना बड़ा उत्सुक है। पतंग-सदृश निराश हृदय से पूछो कि जल जाने में वह अपना सौभाग्य समझता है या नहीं।"[4]

परन्तु कहीं-कहीं भाषा को अत्यधिक अलंकृत बनाने के प्रयास में कृत्रिमता भी आ गई है। इससे भाषा नाटकोचित न रहकर गद्य-गीत के अधिक निकट हो गई है। नरदत्त का दूसरे अंक के सातवें दृश्य में 'जिनके रहस्यों को सुनने से रोम-कूप-स्वेद-जल से भर उठें' कथन इसी प्रकार का है। किन्तु इस प्रकार की कृत्रिमता एकाध स्थल पर ही है।

---

१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २१८-१९
२. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २१७
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २३७
४. जयशंकर प्रसाद : राज्यश्री : द्वितीय अंक : पृ० ४७

गीत-विधान

भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही नाट्य-विधाओं में गीत को स्थान दिया गया है। इसमें पाश्चात्य त्रासदी के अनुरूप ही 'कोरस' अर्थात् समवेत स्वर में गाया गया गान है। इसमें कुल मिलाकर सात गीत हैं। इनमें चार गीतों की गायिका सुरमा है, एक की 'राज्यश्री', एक नेपथ्य गीत और अन्तिम गीत भरत-वाक्य के सदृश है।[१]

नाट्य-रूप

'राज्यश्री' के दो संस्करणों में द्वितीय संस्करण को ही इस अनुसंधान का आधार बनाया गया है। 'राज्यश्री' के वर्तमान संस्करण में चार अंक है, तथा अंकों में दृश्यों का विधान संस्कृत नाट्य-विधान के आधार पर किया गया है। अंक-संख्या निरन्तर कम होती गई है। पहले अंक मे सात दृश्य है, दूसरे अंक में भी सात ही दृश्य रखे गए है, तीसरे अंक में पाँच दृश्य तथा चौथे अंक में चार दृश्य है।

इसका प्रारम्भ भारतीय ढंग का नही, परन्तु अन्त मे भरतवाक्य के समान एक समवेत स्वर में गाया हुआ गीत है जिसमें जन-कल्याण का भाव ही निहित है। इसके साथ ही युद्ध तथा मृत्यु आदि की घटनाओं की भी सूचना दी गई है। डा० विश्वनाथ मिश्र के शब्दों में 'इस नाटक में संघर्ष की भावना एवं कथावस्तु में नगरावरोध, हत्या, युद्ध आदि के प्रसंगों के होते हुए भी, संस्कृत नाट्यशास्त्र मे वर्जित संघर्ष के ये दृश्य, रंगमंच पर नही प्रस्तुत किए गए।'[२] इस प्रकार रूप-विधान में भारतीय नाट्यशिल्प को भी ग्रहण किया गया है।

भारतीय नाट्य-विधान को स्वीकार करते हुए भी प्रसाद जी ने व्यापक रूप से शेक्सपियरीय त्रासदी के तत्त्वों को ग्रहण किया है। इसका प्रारम्भ पाश्चात्य ढंग पर हुआ है। प्रारम्भ में ही प्रधान पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम अंक का प्रथम दृश्य केवल सुरमा और शांतिदेव के चरित्र को स्पष्ट करता है। इसके साथ ही गम्भीर वातावरण के निर्माण के लिए प्रथम अंक के पाँचवें दृश्य में अट्टहास का होना, अन्धकार का फैलना, राज्यश्री का मंच पर ही मूर्च्छित होना तथा तृतीय अंक के चौथे दृश्य में आँधी का चलना, अन्धकार का फैलना तथा भयावह वातावरण का निर्मित होना पाश्चात्य प्रभाव के कारण है। इसके अतिरिक्त कथा मे 'एक साधारण मालिन का एक राजपुरुष से परिणय, लेखक की स्वच्छन्द प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति है।[३] राज्यश्री के चरित्र-निर्माण में भी विदशी प्रभाव परिलक्षित होता है।[४]

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २७५
२. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २१९
३. वही : पृ० २१८
४. डॉ० श्रीपति शर्मा : हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० १३१

निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने इस नाटक में भारतीय शिल्प-विधान के साथ-साथ पश्चिमी स्वच्छन्दतावादी त्रासदी के तत्त्वों को भी ग्रहण किया है। समग्र रूप से देखने पर इस कृति में शेक्सपियर की त्रासदी का रूप ही अधिक प्रतिबिम्बित होता है।

विशाख

'राज्यश्री' के उपरान्त 'विशाख' की रचना सम्भव हुई। इसकी कथा काश्मीर के राजा नरदेव से सम्बन्धित है, जिसका समय प्रसाद जी ने ईसा की पहली शताब्दी अथवा एक-आध शताब्दी पीछे का माना है।

वस्तुतत्त्व कथा का प्रारम्भ नायक विशाख के स्वगत-कथन से होता है, जिसमें वह अपने विगत जीवन पर विचार करता है। इतने में ही रूप और लावण्य की मूर्ति, नाटक की नायिका चन्द्रलेखा अपनी बहिन इरावती के साथ आती है। चन्द्रलेखा की मलिन अवस्था देखकर, विशाख उन दोनों से वार्तालाप के माध्यम से यह जानता है कि वे दोनों ही सुश्रवा नाग की कन्या हैं। राजा नरदेव द्वारा उनकी भूमि का अपहरण करके बौद्ध भिक्षुओं को दे देने से उनकी अवस्था अत्यन्त हीन हो जाती है। इतने मे ही सुश्रवा नाग को खेत की पगडंडी पर जाते देखकर भिक्षु उस पर खेत रौंदने का आरोप लगाता है। चन्द्रलेखा अपने वृद्ध पिता को छुड़ाने के लिए स्वयं को भिक्षुओं के प्रति समर्पित कर देती है। विशाख इस बात के लिए राजा नरदेव के पास जाकर न्याय की प्रार्थना करता है। राजा नरदेव विहार मे जाकर स्वयं चन्द्रलेखा का उद्धार करता है। क्रोध मे सभी विहारों को जलवाने की आज्ञा भी देता है। किन्तु प्रेमानन्द द्वारा बोध दिये जाने पर वह अपनी आज्ञा रुकवा देता है। चन्द्रलेखा के प्रथम दर्शन पर ही, राजा नरदेव उसके सौन्दर्य पर आसक्त होकर उसे प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त करता है। चन्द्रलेखा और विशाख दोनों ही प्रणय-सूत्र में बँध जाने पर, एक दूसरे को अपना सर्वस्व समझते हैं। इधर राजा अपने सहचर महापिंगल के साथ चन्द्रलेखा के घर जाकर प्रेम-निवेदन करता है, परन्तु चन्द्रलेखा प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है।

नरदेव की इच्छा-पूर्ति के लिए महापिंगल एक बौद्ध भिक्षु को चैत्य की आड़ मे बिठाकर यह कहलवाता है कि चन्द्रलेखा राजा नरदेव की हो जाए। किन्तु इस स्थल पर भी प्रेमानन्द के कारण वास्तविक स्थिति का पता लग जाता है। अपने सभी प्रयासों को असफल होते देख राजा नरदेव का प्रेम भीषण रूप ग्रहण करता है। महा-पिंगल स्पष्ट रूप से विशाख से चन्द्रलेखा की माँग करता है। विशाख क्रोध में आकर महापिंगल का वध कर देता है। महापिंगल की हत्या के अपराध में विशाख तथा चन्द्रलेखा को न्यायाधिकरण में नरदेव के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। नरदेव विशाख की सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर देश-निकाले का आदेश देते हैं। राजा के इस अन्यायपूर्ण निर्णय से नाग-जाति में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है। विक्षुब्ध नाग-

जनता हिंसा पर उतर आती है। न्यायाधिकरण मे आग लगा दी जाती है। प्रेमानन्द मूर्च्छित नरदेव को इरावती के निवास-स्थान पर लाते हैं। वहीं चन्द्रलेखा भी नरदेव के बच्चे को उठाकर लाती है। नरदेव मेंमानवीय भावनाओं का उदय होता है। वह विशाख तथा चन्द्रलेखा से क्षमा माँगकर उपकृत हो जाता है।

नाटक के 'परिचय' में प्रसाद जी ने इसे ऐतिहासिक नाटक माना है। इसके वस्तु-चयन के सम्बन्ध में उनका कथन है कि 'यह नाटक, राजतरंगिणी की एक ऐतिहासिक घटना पर अवलंवित है।[1] कल्हण की राजतरंगिणी' एक ऐतिहासिक ग्रंथ माना जाता है। अतः शास्त्रीय दृष्टि में यह 'ख्यातवृत' ही माना जाएगा। नाटक की परिपूर्णता के लिए प्रसाद जी ने इसमे कतिपय काल्पनिक घटनाओ का भी समावेश किया है। डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा के शब्दों में 'राजतरंगिणी का कथा-क्रम ही प्रायः लेखक ने स्वीकार किया है, परन्तु नाटकीय भव्यता अथवा समष्टि-प्रभाव के विचार से अन्त मे उसने नर को बचा रखा है।.........राजतरगिणी की कथा मे दो घटनाएं पृथक्-पृथक् ज्ञात होती है। उनके मिलाने का यह ढंग अवश्य ही नाटकोचित हुआ है।[2] नाटक मे प्रसाद जी ने प्रेमानन्द और महापिंगल को ही केवल काल्पनिक मात्र माना है। परन्तु डा० प्रेमदत्त शर्मा[3] का मत है कि 'राजतरंगिणी को देखने पर ज्ञात होता है कि तरला और रानी का उल्लेख राजतरंगिणी में नहीं होता।'

कथा को देखने से यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि आधिकारिक कथा के अन्तर्गत विशाख तथा चन्द्रलेखा की कथा तथा अन्तर्कथा अथवा प्रासंगिक कथा के रूप में नरदेव की कथा है। अपने मूल रूप में ये कथाएँ प्रेममूलक हैं। प्रायः आलोचकों ने प्रसाद जी पर आक्षेप लगाया है कि उन्होंने 'राजतरंगिणी' जैसे ग्रंथ से एक साधारण प्रेमकथा का चुनाव किया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कथन है कि 'इसके कथानक में एक स्त्री और उसके दो प्रेमियों की कथा है, जो प्रायः सभी प्रेमगाथाओ में रहा करती है।' इसके साथ ही 'सामान्य प्रेम-कथा को इसमें एक प्राचीन आवरण देने का प्रयास-मात्र है।'[4] इसी प्रकार डा० रामरतन भटनागर ने इस पर आक्षेप लगाया है कि 'विशाख' की कथावस्तु एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ पर आधारित होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है।[5]

वास्तव में इतिहास को आधार मानकर 'विशाख' पर जो उपर्युक्त आक्षेप लगाए गए है, वे एकांगी दृष्टिकोण के कारण ही है। प्रसाद जी ने कथानक का चुनाव स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के कारण, इतिहास से करते हुए भी प्रेमकथा के माध्यम

१. जयशंकर प्रसाद : विशाख : परिचय : पृ० ५
२. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २११
३. डॉ० प्रेमदत्त शर्मा : प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ० ११४
४. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २४०
५. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद का जीवन और साहित्य : पृ० १०३

से अपने उद्देश्य को स्पष्ट किया है। प्रसाद जी का उद्देश्य 'इसमें प्रेमकथा को नाटकीय रूप देना नहीं, प्रत्युत् देश की तत्कालीन समस्याओं को सुलझाना है।'[१] अतः कथानक के चुनाव के आधार पर प्रसाद जी पर लगाए गए उपर्युक्त आक्षेप निर्भ्रान्त नही हैं।

विशाख के कथानक में शेक्सपियरीय त्रासदी के अनुरूप ही स्वच्छन्द प्रेम और जीवन के संघर्षमय स्वरूप का समन्वय है।'[२] 'विशाख' का वस्तु-विधान भारतीय नाट्य-विधान की अपेक्षा पाश्चात्य नाट्य-विधान के अधिक निकट है। नाटक का 'फल' स्पष्ट न होने के कारण इसका विकास पाश्चात्य-विधान पर हुआ है। कथानक का प्रारम्भ, विकास तथा चरमसीमा संघर्ष के आधार पर ही हुई है। नाटक के प्रारम्भ में ही विशाख तथा बौद्ध भिक्षु का वाक्-संघर्ष है। यही विरोधी घटनाओं को जन्म देता है और नाटक का विकास होता है: विरोध अपनी चरम सीमा पर उस समय पहुँचता है जबकि विशाख को राजा नरदेव राज्य-निष्कासन की आज्ञा देता है। संघर्ष का स्थूल रूप न्यायाधिकरण में आग लगने पर उपस्थित होता है। अतः यह स्पष्ट ही है कि कथा का विकास भारतीय कार्यावस्थाओं के आधार पर नहीं, पाश्चात्य संघर्ष के आधार पर होता है।

त्रासदी में जीवन का गम्भीर पक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इसी कारण उसमें भय तथा करुणा का वातावरण प्रस्तुत किया जाता है। 'विशाख' में भी प्रसाद जी ने अनेक स्थलों पर ऐसी घटनाओं का आयोजन किया है जिनसे भय उत्पन्न होता है। यथा प्रथम अंक मे विहारों को आग लगवाना, जलती हुई दीवारों का गिरना, अंधेरी रात में चैत्य में चन्द्रलेखा का जाना इत्यादि। इसी प्रकार कई दृश्य ऐसे भी हैं जो करुणोत्पादक है यथा—पिता की सहायता के लिए आई हुई निरपराध चन्द्रलेखा को भिक्षुओं द्वारा विहार में बन्दी बनाना आदि।

आलोचकों ने इसके कथानक पर यह भी आक्षेप लगाया है कि 'इसका वस्तु-प्रवाह बिना किसी विशेष उतार-चढ़ाव के आदि से अन्त तक एक कहानी की भाँति चला चलता है। वस्तु के नाटकीय गुंफन की कुशलता इसमे कही भी दिखाई पड़ती।[३] डा० शर्मा के इस आक्षेप से हम सहमत नही है। इसका कथानक वास्तव में जटिल न होकर सरल है। पात्रों की सीमित संख्या पर आधृत यह नाटक 'एक ओर ही ऋजु-पथ बनाता चला जाता है।[४] इसमे अनेक स्थलों पर चमत्कार है, जो इसे नाटकीय बना देता है। प्रथम अंक में भिक्षुओं द्वारा सुश्रवा नाग को पकड़ने पर उसी समय चन्द्रलेखा का आगमन कथानक में चमत्कार उत्पन्न करता है। इसी प्रकार दूसरे अंक

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २२२
२. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २१९
३. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २०९
४. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २५७

में चैत्य में भयानक गर्जन सुन कर चन्द्रलेखा के गिर पड़ने के समय भी विशाख का सहसा प्रवेश नाटकीयता उत्पन्न करता है। अतः इस कथानक को चमत्कार-विहीन नहीं कहा जा सकता। प्रो० शिलीमुख ने यह सत्य ही कहा है कि 'विशाख का प्लाट तो सरल है और उसमें पात्रों की संख्या भी बहुत कम है, अतः उसका बिल्कुल स्वाभाविक और बहुत अनुकूल प्रसार होता है।'[1]

चरित्र

इस नाटक में छः पुरुष पात्र तथा पाँच स्त्री पात्र हैं। पुरुष पात्रों में विशाख, राजा नरदेव तथा संन्यासी प्रेमानन्द प्रमुख हैं। गौण रूप से नरदेव के सहचर महापिंगल को भी ग्रहण किया गया है। स्त्री पात्रों में केवल चन्द्रलेखा का चरित्र प्रस्तुत करना ही नाटककार को अभीष्ट रहा है।

विशाख : नाटक का प्रधान पात्र विशाख है और उसी की प्रधानता के आधार पर नाटक का नामकरण किया गया है। भारतीय नाट्य-विधान के आधार पर फल की प्राप्ति करने वाला तथा मुख्य कथा से सम्बद्ध पात्र ही नायक कहलाता है। 'विशाख' नाटक का आरम्भ ही विशाख से होता है। नाटक में प्रत्येक घटना से वह प्रत्यक्ष सम्बद्ध है, यथा-राजकीय प्रलोभन देने वाले महापिंगल का वध भी उसी के हाथों होना तथा अन्ततः उसके बन्दी बनाए जाने पर नाग जाति का विद्रोह होना यह सिद्ध कर देते है कि शास्त्रीय परम्परा के अनुसार विशाख ही इस नाटक का नायक है।

पात्रों का चयन भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप होते हुए भी प्रसाद जी ने उनका सृजन नवीन ढंग पर किया है।

वास्तव में इनके पात्र संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुरूप आदर्शवादी अथवा परम्परायुक्त न होकर शेक्सपियर के चरित्रों की भाँति निजी व्यक्तित्व तथा मानवीय दुर्बलताओं को लिए होते हैं। विशाख नायक होता हुआ भी मानवीय दुर्बलताओं से युक्त है। एक ओर स्थान-स्थान पर उसके चरित्र की विशेषताओं—सहानुभूति, पर दुःख-कातरता गुरु की आज्ञा का पालन, निर्भीकता आदि का उद्घाटन किया गया है तो दूसरी ओर उसके चरित्र के दोषों का। चरित्र में दो विरोधी विशेषताओं के कारण ही आकर्षण तथा वैचित्र्य उत्पन्न हुआ है।

शेक्सपियरीय त्रासदी के नायक की भाँति ही विशाख भी पहले दृश्य में ही अपने यौवन में प्राप्त असन्तोष, अतृप्ति तथा अशान्ति को अभिव्यक्ति करता है :

'शैशव ! जब से तेरा साथ छूटा तब से असन्तोष, अतृप्ति और अटूट अभिलाषाओ ने हृदय को घोंसला बना डाला।···यौवन सुख के लिए आता है—यह एक भारी भ्रम है।'[2]

---

१. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० ३९

२. जयशंकर प्रसाद : विशाख : प्रथम अंक : पृ० १२

विशाख के चरित्र में परदु:खकातरता का गुण विद्यमान है, परन्तु इसका प्रेरणा-स्रोत अन्तर की सद्वृद्धि नही, प्रत्युत् चन्द्रलेखा का रूप-सौन्दर्य ही है :

'चन्द्रलेखा को यदि न देखता, तो सम्भव है कि यह धर्म-भाव न जगता।'[१]

विशाख का इस प्रकार चरित्रांकन किया गया है कि उसकी सभी मानवीय दुर्बलताएँ स्पष्ट हो जाती है। तक्षशिला से निकला हुआ यह स्नातक नवयुवक सांसारिक शिष्टाचारों से अवगत नही है। यही कारण है कि राज्य-सभा मे कटु सत्य को बिना किसी शब्दाडम्बर के वह कह देता है। समग्र रूप से देखने पर विशाख का चरित्र मानवीय धरातल पर ही निर्मित किया गया है। डा० शर्मा ने विशाख के चरित्र मे पाई जाने वाली वासना के आधार पर इसे अत्यन्त साधारण चरित्र माना है।[२] परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा विनम्र निवेदन यह है कि विशाख का चरित्र-चित्रण प्रसाद जी ने स्वच्छन्दतावादी त्रासदी के अनुरूप किया है और मानवीय धरातल पर चरित्र-चित्रण होने के नाते निःसंकोच रूप से उसके गुण-दोषों को उभारने का प्रयत्न किया है। अतः डा० शर्मा का नायक को 'साधारण चरित्र' वाला मानना अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता।

नरदेव : शास्त्रीय विधान के अनुसार राजा नरदेव पापी, व्यसनी, उद्धत तथा नायक विशाख का विरोधी होने के कारण प्रतिनायक कहा जाएगा। नरदेव प्रारम्भ मे एक न्यायप्रिय तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी के रूप में सामने आता है। महापिगल द्वारा भिक्षुओं के परिहास पर नरदेव का कथन है :

'चुप मूर्ख ! भिक्षुओं के साथ हँसी ठीक नही, वे पूजनीय है।'[३]

किन्तु चन्द्रलेखा के उद्धार के समय ही उसका वास्तविक रूप हमारे सामने आ जाता है। चन्द्रलेखा के रूप-सौन्दर्य पर आसक्त होकर पहले तो वह प्रणय-भिक्षा माँगता है, किन्तु उसमें असफल होने पर उसका प्रेम विकृत रूप धारण कर लेता है। चन्द्रलेखा को बलात् ग्रहण करने और विशाख की सम्पत्ति छीन कर उसे राज्य-निष्कासन की आज्ञा देने में उसका व्यसनी, पापी रूप स्पष्ट हो जाता है।

किन्तु इतना होते हुए भी नरदेव के चरित्र-निर्माण में प्रसाद जी ने जिस अन्तर्द्वन्द्व तथा चिन्तनात्मकता का समावेश किया है वह शेक्सपियर के प्रभाव-स्वरूप है। अकेले में बैठकर राजा नरदेव सोचता है :

'वैभव केवल आडम्बर के लिए है, सुख के लिए नही। क्या वह दरिद्र किसान भी, जो अपनी प्रिया के गले में बाँह डाल कर पहाड़ी निर्भर के तट पर बैठा होगा, मुझसे सुखी नहीं है।'[४]

---

१. जयशंकर प्रसाद : विशाख : प्रथम अंक : पृ० ३२

२. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २१२

३. जयशंकर प्रसाद : विशाख : प्रथम अंक : पृ० १८

४. वही : द्वितीय अंक : पृ० ५०-५१

अन्यायी, अविवेकी तथा पापी राजा नरदेव का यह चिन्तक रूप पाश्चात्य प्रभाव के फलस्वरूप ही चित्रित किया गया है। इस सम्बन्ध में डा० विश्वनाथ मिश्र का यह कथन है कि 'इस नाटक में भी विशाख, नरदेव आदि चिन्तनशील चरित्र हैं और उन पर शेक्सपियर के इसी प्रकार के चरित्रों की छाया स्पष्ट है।'[1]

चन्द्रलेखा—नायक विशाख की प्रिया, नाटक की प्रधान पात्र चन्द्रलेखा ही नाटक की नायिका है। नायक की भाँति ही नायिका भी पितृ-भक्ति, अतिथि-सत्कार, कष्ट-सहिष्णुता, एकनिष्ठ-प्रेम, निर्भीकता आदि मर्यादावादी गुणों से युक्त है।

रूप तथा लावण्य से युक्त होने के कारण वह मलिन अवस्था में भी सुन्दर दिखाई देती है। जीवन के प्रारम्भिक चरण मे ही उसे कष्ट तथा विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। अपने हृदय की घनीभूत पीड़ा की अभिव्यक्ति वह इस प्रकार करती है :

'सखी री ! सुख किसको हैं कहते ?
बीत रहा है जीवन सारा केवल दुःख ही सहते।'[2]

निरन्तर दुःखपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए भी उसमे प्रेम का अक्षय सागर है। प्रथम दर्शन पर ही वह विशाख पर अनुरक्त हो जाती है। वास्तव में उसका रूप-सौन्दर्य ही ऐसा है कि वह सभी को आकर्षित करता है। महत सत्यशील तथा राजा नरदेव भी उसके इसी सौन्दर्य पर आसक्त होकर नीच कर्म करते है। किन्तु इसके विपरीत चन्द्रलेखा में प्रेम की एकनिष्ठता है। नरदेव के राजकीय प्रलोभन के उत्तर में निम्न कथन चन्द्रलेखा के चरित्र की उज्जवलता तथा व्यक्तित्व की गरिमा को स्पष्ट करता है :

'मेरी इस झोंपड़ी में राजमन्दिर से कहीं बढ़कर आनन्द है।'[3]

त्रासदी के महत्त्वपूर्ण पात्रों की भाँति चन्द्रलेखा भी आद्योपान्त कष्ट सहती हैं। परन्तु इस पर भी वह मानवीय गुणों से निरन्तर अपने चरित्र को उज्जवल बनाए रखती है। व्यभिचारी नरदेव के बच्चे की रक्षा तथा अन्त में उसे मुक्त हृदय से क्षमा करने पर वह पाठको में करुणा को उद्बुद्ध करने में सफल हो जाती है।

महापिंगल—नरदेव के सहचर महापिंगल का चरित्रांकन प्रसाद जी ने भारतीय परम्परा के अनुरूप विदूषक के रूप में किया है। विदूषक का कार्य हास्य उत्पन्न करना है। यहाँ भी महापिंगल अपनी वाणी से ऐसा करने में सफल हुआ है। महापिंगल की हास्यरस की उक्तियाँ विशाख के साथ वार्तालाप में तथा अपनी स्त्री तरला के साथ संवादों में प्रकट है :

'कौन कहता है कि मैं नीरस हूँ। प्रेम-रस यदि मेरे रोम-कूपों से निकाला

---

१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २१६
२. जयशंकर प्रसाद : विशाख : प्रथम अंक : पृ० १३
३. वही : द्वितीय अंक : पृ० ५८

जाए, तो चार-चार रहट चलने लगे ।'[१]

किन्तु महापिंगल का रूप केवल एक-आध स्थल पर ही ऐसा चित्रित किया गया है। अन्यथा वह नाटक मे राजा का व्यवहार-कुशल अनुचर तथा षड्यन्त्रकारी ही चित्रित हुआ है। विदूषक के इस परम्परागत रूप मे परिवर्तन भी पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही हुआ है। डॉ० विश्वनाथ मिश्र का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि प्रसाद जी ने महापिंगल के चरित्र में पाश्चात्य नाटक के खलनायक की दुष्टता का भी समावेश किया है और उसी के अनुरूप उसका दुःखमय अवसान, विशाख की तलवार के आघात से मृत्यु दिखाई गई है।'[२]

संवाद-योजना

संवाद-योजना पर तत्कालीन रंगमंचीय नाटको का प्रभाव प्रतीत होता है। इसका कारण है गद्य के साथ पद्य का प्रयोग तथा तुकान्त गद्य का प्रयोग। यह प्रवृत्ति सभी पात्रो के संवादों में मिलती है। एक पात्र पहले अपनी बात गद्य मे कहता है, फिर उसी की पुनरावृत्ति पद्य में करता है। विशाख का निम्न कथन इसी का द्योतक है :

'विशाख— (**मन में**) **ऐसा सुन्दर रूप और वेश ऐसा मलिन।**
सलोने अंग पर पट हो मलिन भी रंग लगता है,
कुसुम-रज से ढंका भी हो कमल फिर भी सुहाता है।'[३]

इसके अतिरिक्त गद्य में तुकबन्दी भी उसी प्रकार मिलती है जिस प्रकार 'राज्यश्री' मे।[४] विशाख का यह कथन :

'मिट्टी के बर्तन थोड़ी ही आँच में तड़क जाते है। नये पशु एक ही प्रहार में भड़क जाते हैं।'[५] तुकान्त गद्य का ही नमूना है। वास्तव में यह थियोट्रिकल नाटकों के प्रभाव-स्वरूप ही हुआ है।[६]

'विशाख' की संवाद-योजना में स्वगत-कथन का अधिक प्रयोग है। केवल एक दो स्थलो को छोड़कर, शेष समस्त नाटक में स्वगत का प्रयोग भारतीय नाट्य-विधान के अनुकूल किया गया है, जिसकी आलोचना प्रसाद जी ने स्वयं महापिंगल के माध्यम से की है :

'जैसे नाटकों के पात्र स्वगत जो कहते हैं, वह दर्शक-समाज का रंगमंच सुन

१. जयशंकर प्रसाद : विशाख : पृ० ४६
२. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २२
३. जयशंकर प्रसाद : विशाख : प्रथम अंक : पृ० १२-१३
४. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २०६
५. जयशंकर प्रसाद : विशाख : प्रथम अंक : पृ० ३३
६. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० ३७

लेता है, पर पास का खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुना करता, उनको भरत बाबा की शपथ है।'

आश्चर्य है कि स्वयं स्वगत के प्रयोग की आलोचना करने वाले नाटककार ने प्रायः नाटक में सर्वत्र इसका प्रयोग किया है। यथा—इरावती तथा चन्द्रलेखा की उपस्थिति में ही विशाख का कथन :

'(स्वगत) मैं तो कभी न पड़ता, यदि इस संसार मे पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि मे यह चन्द्रलेखा न दिखलाई पड़ती।'

भाषा-शैली

इस नाटक की भाषा में गद्य तथा पद्य दोनों माध्यमों का उपयोग किया गया है। गद्य की भाषा बोलचाल की भाषा को भी समेटे हुए है तो पद्य में सरस मधुरता विद्यमान है। भाषा के स्वरूप में पात्रों की सामाजिक स्थितियों के आधार पर परिवर्तन स्पष्ट है। डॉ० ओझा के मतानुसार 'उनके सभी पात्र खड़ी बोली का प्रयोग करते है, किन्तु उनकी भाषा मे परिवर्तन विषय की गहनता के कारण होता है, प्रांत की विभिन्नता के कारण नही।'[1] भिक्षु की भाषा उसके सामाजिक पद के अनुरूप है :

'तू कौन ? राजा का साला कि नाती कि घोड़ा, तुझसे मतलब ? तथा प्रेमानन्द के गहन व्यक्तित्व तथा सामाजिक मर्यादा के अनुरूप गहन दार्शनिक भाषा का प्रयोग किया गया है।

'जब तक शुद्ध बुद्धि का उदय न हो, तब तक स्वार्थ-प्रेरित होकर भी सत्कर्म करणीय है।'[2]

डॉ० ओझा ने महापिंगलर की भाषा को नाटक की अपेक्षा उपन्यास के लिए उचित माना है। इसका 'कारण यह है कि वह चरित्र-चित्रण में असमर्थ, कथा को गतिशील बनाने में अक्षम और मुख्य रस के परिपाक में बाधक' है।[3]

गीत विधान

इस नाटक में डॉ० ओझा के मतानुसार केवल दो ही गीत वास्तविक गीतिकाव्य-शैली के अन्तर्गत आते है। 'आज मधु पीले यौवन खिला' तथा 'नदी नीर से भरी' शेष गीत प्राचीन ढंग की शैली पर लिखे गए है[4] ये दोनों गीत पात्र की मानसिक अवस्था को स्पष्ट करते है। डॉ० श्रीपति शर्मा[5] ने प्रारम्भिक गीतों को कोरस

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० २६६
२. जयशंकर प्रसाद : विशाख : प्रथम अंक : पृ० ३७
३. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० २६६
४. वही : पृ० २७३
५. डॉ० श्रीपति शर्मा : हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० १३१

के सदृश माना है ।

नाट्य-रूप

अन्त मे समग्र दृष्टि से इसके रूप-विधान पर विचार करने पर यह स्पष्ट हा ज्ञात होता है कि 'प्रसाद जी प्राचीन परिपाटी से बाहर भागकर नई शैली के सृजन के लिए छटपटा रहे है ।[1] इसका प्रारम्भ पाश्चात्य त्रासदी के अनुरूप प्रधान पात्र के परिचय से हुआ है । विशाख का चरित्र उसके प्रथम दर्शन में ही उसके स्वगत-कथन द्वारा स्पष्ट किया गया है । मर्यादावादी दृष्टि के विपरीत कथानक का चुनाव तथा निर्माण स्वच्छन्दतावादी उपकरणों से हुआ है ।

त्रासदी मे भय के उत्पादन के लिए उसके अनुरूप घटनाओं तथा दृश्यों का आयोजन किया गया है, यथा—मंच पर सुश्रवा नाग का मूर्च्छित होना, विहारो में आग लगना, जली हुई दीवार का गिरना, भयानक रात्रि में चन्द्रलेखा का चैत्य में जाकर पूजा करना, चैत्य में भिक्षु के गर्जन से घबराकर चन्द्रलेखा का गिर पड़ना, महापिंगल का वध, राजा नरदेव के विरुद्ध नाग-जाति का विद्रोह, न्यायाधिकरण में आग लगना इत्यादि इसी प्रकार की घटनाएँ तथा दृश्य है ।

इतना होते हुए भी प्रसाद जी पर तत्कालीन रंगमंचीय नाटकों का प्रभाव पड़ा है । किन्तु इस प्रभाव ने त्रासदी की मूल आत्मा की अपेक्षा उसके बाह्य शरीर को ही प्रभावित किया है । अपनी मौलिक देन प्रेमानन्द के चरित्र-निर्माण द्वारा प्रसाद जी ने नाटक में करुणा तथा मैत्री का संदेश मुखरित किया है ।[2] इसका अन्त नरदेव की प्रार्थना से होता है । इसका रूप भरतवाक्य जैसा हो गया है, परन्तु डॉ० विश्वनाथ मिश्र के शब्दों में 'उसका सम्बन्ध जन-कल्याण की' भावना से उतना नहीं जितना चरित्र-विशेष, नरदेव, के व्यक्तित्व के उत्थान से है ।'[3] निष्कर्ष रूप में प्रसाद जी इस नाटक मे भारतीय प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी पाश्चात्य नाट्य-विधान के अधिक निकट रहे है ।

अजातशत्रु

'अजातशत्रु' नाटक के भी दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं । प्रथम संस्करण तथा अन्य संस्करण में डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा[4] के मतानुसार अन्तर आ गया है । परन्तु यह अन्तर कथानक, चरित्र और सिद्धान्त सम्बन्धी न होकर कथोपकथन-सम्बन्धी ही अधिक है । वास्तव मे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी स्वयं अपनी नाट्य-कृतियों पर विचार करते रहे होंगे और क्रमशः प्रौढ़ता की ओर अग्रसर होने के

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २२४
२. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद का जीवन और साहित्य : पृ० १२८
३. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २२२
४. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ५०

कारण यत्र-तत्र परिवर्तन करते होंगे।

वस्तुतत्त्व

इस नाटक की कथा का सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के इस धरती पर विद्यमान होने के समय से है। प्रसाद जी ने भारत के ऐतिहासिक काल का प्रारम्भ भगवान बुद्ध से ही माना है।[1] इस नाटक का सम्बन्ध मध्यभारत के चार राष्ट्रों से है : मगध, कोशल, कौशाम्बी तथा अवन्ती। इतिहास के इस विराट् परिप्रेक्ष्य को ध्यान मे रख-कर कथानक का निर्माण किया गया है। इन चारों राष्ट्रों में डा० दशरथ ओझा के शब्दों मे 'मगध चारों राज्यो का मेरु है।'[2] अतः कथा का प्रारम्भ तथा अन्त मगध राज्य मे ही किया गया है।

मगध-नरेश बिम्बसार की दो रानियाँ थी—वासवी तथा छलना। वासवी कौशल-नरेश प्रसेनजित की बहन थी और छलना लिच्छवि राजा चेटक की पुत्री थी। वासवी से पद्मावती तथा छलना से कुणीक (अजातशत्रु) का जन्म हुआ। पद्मावती का विवाह कौशाम्बी के राजा उदयन से हुआ। इस प्रकार वैवाहिक सम्बन्धो से मगध, कौशल तथा कौशाम्बी का पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्ध था। अजात तथा उसकी माता छलना मूलतः महत्त्वाकाक्षी होने के कारण, छल से मगध के शासन से महाराज बिम्बसार को राज्य त्याग करने पर मजबूर कर देते हैं तथा वासवी और महाराज बिम्बसार राज्य-वैभव छोडकर उपवन में एक कुटिया में रहने लगते है। मगध के शासन में ही प्रसेनजित द्वारा दिया गया काशी प्रान्त भी सम्मिलित था, जिसे वासवी अपनी पैतृक सम्पत्ति होने के कारण अपने अधिकार में लेना चाहती है। अजातशत्रु द्वारा पिता से राज्य छीन लेने का समाचार कौशल-नरेश प्रसेनजित के पास पहुँचता है। प्रसेनजित का पुत्र विरुद्धक भी राज्य प्राप्ति की इच्छा व्यक्त करता है। पिता-पुत्र मे अधिकारों को लेकर मतभेद हो जाता है। प्रसेनजित रुष्ट होकर विरुद्धक को युवराज पद से वंचित तथा उसकी माता शक्तिमती को साधारण दासी के समान समझने की आज्ञा देता है।

इधर काशी की प्रजा द्वारा राजकर न देने से अजातशत्रु अपनी परिषद् की अनुमति से कौशल के साथ विग्रह तथा उसका दमन करने का प्रस्ताव करता है। प्रसेनजित विरुद्धक को उसके अधिकारो से वंचित करता है और वह इन अधिकारों को बाहुबल से प्राप्त करने के लिए शैलेन्द्र डाकू बनकर काशी मे उत्पात मचाता है। प्रसेनजित अपने सेनापति बन्धुल को काशी मे विद्रोह दबाने के लिए भेजता है, जहाँ शैलेन्द्र छल से उसकी हत्या कर देता है। मल्लिका को अपने पति की हत्या की सूचना मिल जाने पर भी वह तथागत का कर्त्तव्यपूर्ण ढंग से स्वागत करती है। यही प्रसेन-जित आकर अपनी भूल के लिए क्षमा माँगता है। काशी में सेनापति बन्धुल के मारे

---

१. जयशंकर प्रसाद : अजात शत्रु : कथा प्रसंग : पृ० ७

२. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २२५

जाने से अजातशत्रु अवसर का लाभ उठाकर काशी पर अधिकार कर लेता है। मगध के देवदत्त तथा छलना की कुमन्त्रणा से अजातशत्रु तथा विरुद्धक कोशल तथा कौशाम्बी पर आक्रमण करते हैं, किन्तु युद्ध में अजातशत्रु बन्दी बनाया जाता है। छलना इसका दोष देवदत्त को देती है तथा वास्तविकता का ज्ञान होने पर पछताती है। इतने में वासवी आ जाती है, जिसे देखकर छलना सपत्नीक द्वेष से उसका भी तिरस्कार करती है। किन्तु वासवी के वात्सल्य भाव के आगे छलना का गर्व चूर-चूर हो जाता है। वह शीघ्र ही अजात की मुक्ति के लिए वासवी से प्रार्थना करती है। कोशल के बन्दीगृह में रहते हुए अजातशत्रु तथा कोशल नरेश प्रसेनजित को पुत्री वाजिरा मे प्रेम हो जाता है। वासवी अजातशत्रु को बन्धनों से मुक्त कराती है। छलना, मल्लिका, कारायण आदि की उपस्थिति में ही अजातशत्रु तथा वाजिरा का परिणय सम्पन्न किया जाता है। अजातशत्रु को पुत्रप्राप्ति पर पुत्र-स्नेह का ज्ञान होता है। वह अपने पिता बिम्बसार से जाकर क्षमा माँगता है कोशल का बिरुद्धक भी प्रसेनजित से क्षमा माँगता है और गौतम की प्रेरणा से प्रसेनजित स्वेच्छा से राज्य-भार विरुद्धक को दे देते हैं। इस प्रकार अन्त में चारों राज्यों मे शान्ति-स्थापना की जाती है।

कथानक का चयन बौद्धकालीन इतिहास से किया गया है। डा० शर्मा के मतानुसार प्रसाद जी ने 'इस नाटक में काल्पनिक भावुकता की ऐतिहासिक परम्परा स्थापित करने की पूर्ण चेष्टा की है। इस नाटक के प्रधान पात्र बुद्धदेव, बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित, उदयन प्रभृति तो इतिहास-सिद्ध पात्र हैं ही, इनके अतिरिक्त वासवी, पद्मावती, विरुद्धक, शक्तिमती, छलना, देवदत्त, माँगधी, मल्लिका, बन्धुल इत्यादि भी जातक तथा अन्य प्रामाणिक ग्रंथों द्वारा अनुमोदित हैं।[1] पात्रों के साथ ही घटनाएँ भी अधिकांश में ऐतिहासिक ही है। काल्पनिक घटनाओं से इतिहास की लुप्त परम्परा को शृंखलाबद्ध करने का प्रयास किया गया है। इन घटनाओं में बिम्बसार और वासवी को नाटक के अन्त तक जीवित रखना, अजातशत्रु के पुत्र उत्पन्न होने पर उसका बन्दीगृह से बिम्बसार को छुड़ाना, श्यामा और मल्लिका का मिलना, बिम्बसार का लड़खड़ाकर गिरना इत्यादि।[2] अतः कथानक का चुनाव भारतीय नाट्य-विधान के अनुसार प्रसाद जी ने 'ख्यातवृत' से किया है।

वस्तु-विन्यास में प्रसाद जी ने स्वच्छन्दतावादी शिल्प के अनुरूप प्रधान कथा के साथ-साथ अनेक प्रासंगिक कथाएँ जोड़ दी हैं। आधिकारिक कथा के अन्तर्गत मगध में बिम्बसार की पारिवारिक कलह की कहानी है। प्रासंगिक कथाओं मे दो कथाएँ हैं—उदयन और पद्मावती की कथा तथा प्रसेनजित और विरुद्धक की कथा। भार-

---

१. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ५०
२. डा० प्रेमदत्त शर्मा : प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ० १०२

तीय परम्परा के अनुरूप प्रासंगिक कथा का उद्देश्य आधिकारिक कथा को आगे बढ़ाना होता है। किन्तु आलोचकों ने 'अजातशत्रु' पर इस दृष्टि से आक्षेप लगाया है। डा० बच्चनसिंह[1] का कथन है कि 'प्रासंगिक-कथावस्तु आधिकारिक कथावस्तु पर इस तरह हावी हो गई है कि प्रासंगिक कथावस्तु आधिकारिक कथावस्तु को अपदस्थ-सा कर देती है ...... उदयन और मागन्धी सम्बन्धी कथा से नाटकीय रोचकता तो आ गई है, परन्तु यह मुख्य कथा को किसी भी अर्थ में आगे नहीं बढ़ाती वास्तव में आधिकारिक कथा के साथ-साथ प्रासगिक कथा को भी महत्त्व देना 'प्रसाद' पर पाश्चात्य प्रभाव सिद्ध करता है। प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' ने भी इस पर जो अक्षेप लगाया है उसका भी कारण यही प्रतीत होता है कि उन्होंने इस नाटक को मात्र भारतीय दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि 'अजातशत्रु' एक अकुशल नाटक है। उसकी वस्तु-रचना मे उद्देश्य-हीनता है।[2] वस्तुतः 'प्रसाद' जी ने पहली बार इतिहास को व्यापक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इसके कथानक का निर्माण जटिल होते हुए भी सफल माना गया है। डा० दशरथ ओझा के शब्दों में 'प्रसाद एक जटिल कथानक को प्रथम बार ऐसे कौशल के साथ ग्रंथित करने में समर्थ हुए है कि सम्पूर्ण कथानक पाठक और प्रेक्षक को रसधारा की ओर ही ले जाना वाला प्रतीत होता है।'[3]

✓भारतीय परम्परा के अनुरूप कई घटनाओं की मात्र सूचना दी गई है। ऐसे अंश को शास्त्रीय शब्दावली में 'सूच्य' कहा जाता है। पहले अंक के सातवें दृश्य में प्रसेनजित द्वारा विरुद्धक का ननिहाल में अपमानित होने की घटना की सूचना दूसरे अंक के तीसरे दृश्य मे मल्लिका द्वारा बन्धुल की भूतकालिक वीरतापूर्ण कृत्यों की सूचना, श्यामा द्वारा बन्धुल के वध तथा शैलेन्द्र के घायल होने की भूत घटना की सूचना, श्यामा द्वारा ही समुद्रदत्त की हत्या की भावी सूचना, तीसरे अंक के पहले दृश्य में छलना द्वारा अजातशत्रु के बन्दी बनाए जाने की सूचना दी गई है।

वस्तु-विन्यास में प्रसाद जी ने भारतीय-नाट्य-विधान की अपेक्षा पाश्चात्य नाट्य-विधान को ग्रहण किया है। पाश्चात्य नाटकों के समान ही यह नाटक भी विरोध-मूलक है। डा० शर्मा का अभिमत है कि 'भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार सन्धियों का विवेचन इस नाटक में उतना अच्छा नहीं होगा, क्योंकि पूरा नाटक विरोध-मूलक है।'[4] अतः कार्य की अवस्थाओं का भारतीय दृष्टि की अपेक्षा पाश्चात्य दृष्टि से विचार करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। कथानक का प्रारम्भ मगध के गृह-कलह से होता है। छलना द्वारा प्रेरित अजातशत्रु बलात् राज्य सिंहासन

---

१. डा० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृ० ५७
२. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० १००
३. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २२८
४. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ५१

बिम्बसार से छीनकर अपने हाथों में लेता है। यहीं से विरोध का बीज वपन हो जाता है। बिम्बसार गौतम का अनुयायी है, अजातशत्रु देवदत्त का। देवदत्त गौतम का विरोध करता है। मागन्धी के चरित्र की अवतारणा द्वारा प्रसाद जी ने नाटक में षड्यंत्रों की सृष्टि की है। मागन्धी अपने रूप और यौवन के उचित मूल्यांकन तथा गौतम द्वारा तिरस्कृत होंने पर उदयन का आश्रय लेती है। किन्तु उदयन के यहाँ भी अधिक सम्मान न मिलने पर वह पद्मावती की अपदस्थता के लिए षड्यन्त्र करती है। वीणा में साँप का बच्चा रखकर पद्मावती का तिरस्कार कराती है। कोशल में विरुद्धक अजातशत्रु के अनुरूप ही अपने पिता का विरोधी होकर काशी में अनेकानेक उत्पात मचाना शुरू कर देता है। यहाँ संघर्ष का स्तर अधिक व्यापक हो जाता है। मगध के साथ ही कोशल तथा कौशाम्बी दोनों ही षड्यन्त्रों के कारण गृह-कलह में फँस जाते हैं। यही गृह-कलह आगे चलकर राष्ट्र-कलह का रूप ले लेती है। प्रसेनजित की इस आज्ञा पर कि 'काशी की प्रजा अजात को कर न देकर वासवी को अपना कर दान करे' संघर्ष को और भी प्रज्वलित कर देता है। अब अजात का संघर्ष सीधे कोशल से हो जाता है। इधर विरुद्धक भी अजात से मिल जाता है और इस प्रकार एक संघर्ष दूसरे संघर्ष को जन्म देता जाता है। सम्पूर्ण दूसरे अंक में विरोध का विकास दिखाया गया है। दूसरे अंक के अन्त में संघर्ष अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है। डा० ओझा का यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है कि 'इस नाटक में सर्वत्र क्रांति का विकट घोष सुनाई पड़ता है।'[१] तीसरे अंक में विरोध का ह्रास है। इसका प्रारम्भ छलना द्वारा अपनी भूल को स्वीकार करने से होता है। नाटक के अन्य सभी विरोधी पात्र विरोध को छोड़कर क्षमा माँग लेते हैं। अतः अन्त में विरोध की समाप्ति एवं शमन मिलता है।

चरित्र

इस नाटक के नायक के सम्बन्ध मे प्रायः प्रसाद जी ने किसी निश्चित पात्र को नहीं चुना है। गौतम बुद्ध, बिम्बसार तथा अजातशत्रु सभी पात्र नायक पद के अधिकारी प्रतीत होते है। जहाँ तक अजातशत्रु के चरित्र का सम्बन्ध है, उसका जिस रूप में चरित्रांकन किया गया है, उससे उसका नायकत्व सिद्ध नही हो पाता। डा० गुलाबराय के शब्दो मे 'अजातशत्रु में नायक का उत्तरदायित्व नहीं। ....अधिकतर वह एक आलसी, किंकर्त्तव्यविमूढ़-सा पात्र है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं।'[२] इसी प्रकार प्रो० शिलीमुख का भी विचार है कि 'अजातशत्रु मे बहुत से पात्रों ने प्रधानता ग्रहण कर ली है, जिसके कारण वे सब विकसित चित्रण के अधिकारी हो गये हैं। इससे सबसे पहली कठिनता जो उपस्थित होती है वह नेता के निर्धारण

---

१. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २२६

२. डा० गुलाबराय : प्रसाद जी की कला : पृ० १४५

की है।'[1]

इस समस्या का उद्भव वास्तव में कथानक मे फल का सुनिदिष्ट संकेत न होने के कारण हुआ है। इस नाटक का उद्देश्य वास्तव में अजातशत्रु का चरित्र उपस्थित करना न होकर, करुणा का उद्घोष करना रहा है। यही कारण है कि करुणा की महत्ता के लिए गौतम बुद्ध तथा मल्लिका को प्रभावशाली व्यक्तित्व प्रदान किया गया है; किन्तु नाटक का नायक अजातशत्रु ही है। चरित्र का जो वैलक्षण्य अजातशत्रु में है वह गौतम में नहीं। गौतम आद्यन्त एक दैविक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति के रूप में ही आते हैं, जिनके प्रभाव को देवदत्त के अतिरिक्त सभी स्वीकार करते हैं। वे स्वयं नायक न होकर नायक के सूत्रधार प्रतीत होते हैं। वास्तव में नायक का इस प्रकार का चरित्रांकन भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप नही।

अजातशत्रु : शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप नायक के समस्त गुणों से युक्त न होता हुआ भी अजातशत्रु इस नाटक का नायक है। संस्कृत नाट्य-विधान में अजातशत्रु को 'धीरोद्धत' नायक माना जा सकता है। अजातशत्रु के चरित्र की मूल प्रवृत्तियाँ क्रूरता, हिंसा, दम्भ तथा औद्धत्य हे। चरित्र की हिंसक प्रवृत्ति का प्रदर्शन उसके प्रथम दर्शन मे ही हो जाता है :

'हाँ, तो फिर मैं तुम्हारी चमड़ी उधेड़ता हूँ। समुद्र ला तो कोड़ा।'[2] चरित्र की इस क्रूरता का आगे चलकर विकास होता है। प्रो० 'शिलीमुख' के मतानुसार कुमार (अजातशत्रु) के संस्कार क्रूर है। राजमाता की शिक्षा में उसने उसके भी कुछ गुण ग्रहण किये हैं। उसमें दुराग्रह अहंभाव और उद्दंडता है।'[3] काशी की प्रजा द्वारा राज-कर न दिए जाने पर उसकी हिंसा भयंकर रूप धारण कर लेती है :

'राज-कर मैं न दूँगा'—यह बात जिस जिह्वा मे निकली, बात के साथ ही वह भी क्यों न निकाल ली गई ?'[4]

अजातशत्रु के चरित्र का विकास निरन्तर मूल संस्कार के आधार पर करते हुए भी अन्त में उसकी सद्वृत्ति को जगाया गया है। प्रसेनजित के प्राणों का प्यासा अजातशत्रु मल्लिका की शीतलवाणी से पिघल जाता है :

'देवी, आप कौन है ? हृदय नम्र होकर आप ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है। ऐसी पिघला देने वाली वाणी तो मैंने कभी नहीं सुनी।'[4]

अजातशत्रु मात्र क्रूर ही नही, वह कही-कही चिन्तन-मनन करता हुआ भी दिखाई देता है। युद्ध की भयानकता को देख कर उसके हृदय में अन्ततः विराग उत्पन्न होता है। त्रासदीय नायक की भाँति वह भी अपनी आचरणगत भूलों के कारण

---

१. डा० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्य-कला : पृ० १७६
२. जयशंकर प्रसाद : अजातशत्रु : पहला अंक : पृ० २३
३. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० १७८
४. जयशंकर प्रसाद : अजातशत्रु : दूसरा अंक : पृ० ५६

कष्ट उठाता है। अन्त में अपनी त्रुटियों को स्वीकार कर वह अपने पिता से क्षमा माँगता है :—

'मुझे भ्रम हो गया था। मुझे अच्छी शिक्षा नही मिली थी।'

अजात के चरित्र का कोमल पक्ष वाजिरा के संसर्ग में उभरता है। 'जंगली हिरन' प्रेम-पाश मे आबद्ध होकर अपने वास्तविक रूप को ग्रहण करता है। अजातशत्रु की चरित्र-परिणति पर प्रो० 'शिलीमुख' ने आक्षेप लगाया है कि 'प्रसाद जिस सुन्दरता और अद्भुत कौशल के साथ चरित्र का विकास करते हैं, उस कौशल का वह चरित्र की अन्तिम परिणति में कम परिचय देते हैं।[1] प्रो० 'शिलीमुख' का यह कथन किसी अंश तक सत्य ही प्रतीत होता है।

विरुद्धक : प्रासंगिक कथा का नायक होने के कारण विरुद्धक इस नाटक में पताका नायक के रूप में चित्रित किया गया प्रतीत होता है। पताका नायक नायक के समान ही होता है। इस नाटक में पताका नायक का चरित्र मुख्य नायक के चरित्र से अधिक आकर्षक बन गया है। प्रो० 'शिलीमुख' के शब्दों में 'विरुद्धक पात्र अजातशत्रु की अपेक्षा अधिक तीव्र है। उसमें आत्मनिर्भरता और आत्म पौरुष अधिक है।[2] अजातशत्रु का चरित्र निरन्तर एक ही संस्कार के आधार पर विकसित होता रहा, किन्तु विरुद्धक के चरित्र में अनेक उत्थान-पतन दिखाए गए हैं।

विरुद्धक पहले-पहल अपने अधिकारों के प्रति सचेत नवयुयक के रूप में आता है। मगध में अजातशत्रु द्वारा किए गए कृत्यों का भरी सभा में समर्थन करता है। प्रसेनजित द्वारा निराश्रित होने पर भी वह बाहुवल से ही राज्य को प्राप्त करने का उद्योग करता है। प्रतिहिंसा की अग्नि उसे शैलेन्द्र डाकू बना देती है। शैलेन्द्र के रूप में वह बन्धुल की हत्या कर काशी में कोशल की स्थिति को निर्बल बना देता है। विरुद्धक के चरित्र में 'स्वालंबन, दृढ़ता, उद्योग, वीरता, विवेक आदि अनेक पुरुषोचित गुण और धर्म दिखाई पड़ते हैं।'[3] मल्लिका के प्रसंग में विरुद्धक के चरित्र का कोमल अंश भी प्रकट होता है। मल्लिका के प्रभाव से ही अन्त में इस चरित्र में भी सुधार होता है।

बसन्तक (विदूषक) : प्रसाद जी ने भारतीय परम्परा के अनुरूप ही बसन्तक की विदूषक के रूप में सृष्टि की है। विदूषक के निर्माण में भारतीय प्रभाव के साथ ही शेक्सपियर की त्रासदी के क्लाउन (clown) का प्रभाव भी ग्रहण किया गया है। वसन्तक राजा उदयन का सहचर है। उसका कार्य केवल हँसी उत्पन्न करना ही नहीं, अपितु वह घटनाओं की समीक्षा भी करता है। राजवैद्य जीवक के साथ वार्तालाप में कहीं-कहीं वह हास्य भी उत्पन्न करता है :

---

१. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्य कला : पृ० १५१

२. वही : पृ० १८१

३. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ६३

"सुना है कि धन्वन्तरि के पास एक ऐसी पुड़िया थी कि बुढ़िया युवती हो जाय और दरिद्रता का केंचुल छोड़कर मणिमय बन जाय।"[१]

बसन्तक के विदूषकत्व पर प्रभाव डालते हुए प्रो० 'शिलीमुख' का कथन है कि 'वह शेक्सपीयर के क्लाउनों की भाँति केवल घटनाओं और परिस्थितियों की, अपने लिए कुछ समीक्षा किया करता है।'[२]

मागन्धी—प्रसाद जी ने मागन्धी और बौद्ध आम्रपाली को एक कर दिया है। इस नाटक में 'चरित्र के पतन और उत्थान की दृष्टि से अजातशत्रु और श्यामा की सृष्टि प्रसाद-साहित्य में अद्वितीय है।'[३] मागन्धी के चरित्र की मूलभूत दो विशेषताएँ है: रूप और यौवन की अनन्त प्यास तथा अराजक (उच्छृंखल) मन:स्थिति। इन्हीं दो आधारभूत विशेषताओं के कारण वह नाटक मे 'सम्पूर्ण जीवन भर वात्याचक्र की भाँति नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे मँडराती दिखाई पड़ती है।'[४] एक निर्धन ब्राह्मण की कन्या होते हुए भी, वह रूप और यौवन के बल पर पहले तो गौतम को प्राप्त करना चाहती है, किन्तु वहाँ से असफल होने पर उसके चरित्र मे कुटिलता तथा प्रतिहिंसा का समावेश हो जाता है। उदयन के महल में रहते हुए गौतम द्वारा तिरस्कृत होने पर उसका निम्न कथन प्रतिहिंसात्मक वृत्ति को स्पष्ट करता है:

"इस रूप का इतना अपमान। सो भी एक दरिद्र भिक्षु के हाथ।...... दिखला दूँगी कि स्त्रियाँ क्या कर सकती है।"[५]

उदयन के महल मे भी जब उसकी उद्दाम वासना तृप्त नही होती तो वह काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी श्यामा के रूप में प्रस्तुत होती है। यहाँ शैलेन्द्र डाकू के प्रति अपना समर्पण करते हुए वह कहती है:

"मेरे हृदय में जो ज्वाला उठ रही है, उसे अब तुम्हारे अतिरिक्त कौन बुझावेगा।"[६]

अन्त में शैलेन्द्र द्वारा विश्वासघात के कारण वह राजकीय भोग-विलास से संन्यास लेकर आम्रपाली के रूप मे बुद्ध की शरण में जाती है।

वाजिरा—नायक के समान ही नायिका की समस्या भी इस नाटक में पाई जाती है। मागन्धी के अतिरिक्त मल्लिका ही इस नाटक की प्रधान स्त्री-पात्र है। यही कारण है कि आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने मल्लिका को नायिका मानते हुए लिखा है कि 'मल्लिका का चरित्र नाटक की नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक

१. जयशंकर प्रसाद : अजातशत्रु : पहला अंक : पृ० ४७
२. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल : 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० १०३
३. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २२९
४. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ६५
५. जयशंकर प्रसाद : अजातशत्रु : पहला अंक : पृ० ३९
६. वहीं : दूसरा अंक : पृ० ६८

की सभी घटनाओं के परिवर्तन का केन्द्र वही है।'[1] किन्तु शास्त्रीय नियमों के अनुसार नायक की प्रेमिका तथा फल की भोक्ता वाजिरा ही है।

वाजिरा के चरित्र मे प्रसाद जी ने राष्ट्रीय तथा राजनीतिक संघर्षो को प्रस्तुत नही किया है। वह स्नेह-स्निग्ध, जीवन संघर्षो से अपरिचित तथा उदासीन नवयुवती है। अजातशत्रु के प्रथम दर्शन पर ही वह उस पर आसक्त हो जाती है। वाजिरा का प्रेम त्यागमय है। अजातशत्रु को बन्दीगृह से निकालकर वह पिता के समस्त कोप को अपने ऊपर लेने को तत्पर है।

संवाद-योजना

'अजातशत्रु' में संवाद-योजना सोद्देश्य है। जहाँ छोटे-छोटे वाक्य हैं, वहाँ कथा की गति अत्यन्त तीव्र है, किन्तु अधिकांश में संवाद लम्वे-लम्बे तथा दार्शनिकता-पूर्ण है। गौतम के प्रायः सभी कथन दार्शनिकता से से ओत-प्रोत हैं इनके प्रभाव-स्वरूप ही कही-कही विम्वसार भी दार्शनिकता के रंग में रँग जाता है। गौतम बुद्ध का निम्न कथन अत्यन्त गूढ़ हो गया है :

"शुद्ध बुद्धि तो सदैव निर्लिप्त रहती है। केवल साक्षी रूप से वह सब दृश्य देखती हैं।"[2]

वास्तव में, जैसा कि प्रो० 'शिलीमुख' ने कहा है वार्तालाप में यथेष्ट सजीवता नहीं। भाषण लम्बे हैं जिससे नाटकीय गति में बाधा पड़ी है।'[3]

प्रसाद जी ने शेक्सपियर की भाँति संवाद-योजना में स्वगत को स्थान दिया है। इसका प्रयोग 'नाटककार ने अन्तर्दशाओं के चित्रण के लिए, गूढ मनःस्थितियों के उद्घाटन के लिए'[4] किया है। 'अजातशत्रु' में ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान है। परिचय के लिए श्यामा का स्वगत-कथन उद्धरणीय है :—

'स्वर्ण-पिंजर में भी श्यामा को क्या वह सुख मिलेगा—जो उसे हरी डालों पर कसैले फलों को चखने में मिलता है ?'

भाषा-शैली

'अजातशत्रु में कुछ स्थलों को छोड़कर शेष नाटक में काव्यात्मक तथा अलंकृत भाषा का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं अलंकारों के बोझ के कारण भाषा कृत्रिम भी प्रतीत होती है। उदयन का यह कथन :

"अब मुझे अपने मुखचन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत् की नक्षत्र मालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले······"

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २४३

२. जयशंकर प्रसाद : अजातशत्रु : पहला अंक : पृ० ३०

३. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्य-कला : पृ० ११४

४. डॉ० बच्चन सिंह : हिन्दी नाटक : पृ० ८७

भावों की गहराई के स्थान पर भाषा के चमत्कार को ही प्रस्तुत करता है। भावों की गहनता, दार्शनिकता तथा कल्पना के कारण 'अजातशत्रु' की भाषा सहज तथा सरल नहीं हो पाई है।

रस-योजना

शिल्प-विधान की दृष्टि से यह नाटक शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी त्रासदी के आधार पर निर्मित होने के कारण भारतीय दृष्टि से रस-निष्पत्ति मे सफल नही हो पाया है। डा० शर्मा के कथनानुसार 'नाटक में वीर रस की प्रधानता दिखाई पड़ती है।'[1] पाश्चात्य नाट्य-विधान के अनुरूप प्रसाद जी इसमें चरित्र-चित्रण पर अधिक ध्यान दिया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दो मे 'प्राय: रस को प्रधानता देने वाले नटककार चरित्र का ध्यान नही रखते, किन्तु प्रसाद जी ने पात्रों और परिस्थितियों की बहुलता को स्थान दिया है।'[2]

गीत-विधान

इस नाटक में बारह गीत हैं, जिनमें सात गीतों की गायिका मागन्धी है। इन गीतों में मागन्धी के चरित्र के साथ ही उसकी मानसिक अवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है। प्रसाद की गीत-योजना के सम्बन्ध में डा० दशरथ ओझा का कथन है कि 'मागन्धी के सात गीत इस बात के प्रमाण हैं कि 'प्रसाद' के मस्तिष्क मे किसी एक पात्र को संगीत के लिए निर्धारित करने की योजना अवश्य रही होगी।'[3] शेष तीन गीतों मे से एक भिक्षुओं द्वारा गाया हुआ समवेत गीत है तथा दो गीत पुरुषों द्वारा गाए गए हैं।

नाट्यरूप

डा० सत्येन्द्र तथा डा० रामरतन भटनागर आदि आलोचक विद्वान् इसे दु:खान्त नाटक नहीं मानते। डा० सत्येन्द्र का कथन है कि नाटक का उद्देश्य सफल बन पड़ा है। इस तरह एक सुखमय आत्मा (spirit) के साथ नाटक समाप्त होता है।'[4] यद्यपि नाटक के अन्त मे बिम्बसार की स्पष्टतः मृत्यु नही दिखाई गई है, परन्तु मात्र अन्त से ही इसे सुखान्त नाटक नही माना जा सकता। इसका प्रारम्भ पाश्चात्य त्रासदी के अनुरूप नायक के चरित्रांकन से हुआ है। त्रासदी के गम्भीर वातावरण की निर्मित के लिए संपूर्ण नाटक में भय तथा करुणा की सृष्टि की गई है। पहले अंक में पद्मावती के वध के लिए उदयन का तलवार निकालना, मागन्धी के महल में आग

---

१. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ६८
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २४४
३. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २७३
४. बाबू गुलाबराय : प्रसाद जी की कला : पृ० १४६

लगना, दूसरे अंक में शैलेन्द्र द्वारा श्यामा का गला घोंटना, दूसरे अंक में अन्त में अजातशत्रु तथा विरुद्धक का युद्ध के लिए ससैन्य प्रस्थान, गौतम तथा मल्लिका का महान् त्याग, बिम्बसार का लड़खड़ाकर गिरना नाटक में भय तथा करुणा की सृष्टि करते है। वास्तव में प्रसाद जी की ट्रेजिडी की भावना सर्वथा मौलिक है।......... प्रसाद जी की ट्रेजिडी (Feminine Tragedy) है, उसमे करुणा की सूक्ष्म-कोमल स्मिति रेखा है—भय का अट्टहास नही।[1]

स्कन्दगुप्त

प्रसाद जी की प्रौढ़ कृतियों में 'स्कन्दगुप्त' नाटक शिल्प-विधान की दृष्टि से सर्वोत्तम माना गया है। इस नाटक में भारतीय रस-विधान तथा पाश्चात्य शील-वैचित्र्य का सहज समन्वय हुआ है। डा शर्मा के मतानुसार 'रचना-पद्धति' और नाटकीय गुण के विचार से 'प्रसाद' का सर्वोत्तम नाटक 'स्कन्दगुप्त' है।'[2] डा० ओझा का अभिमत है कि 'स्कन्दगुप्त' नाटक के वस्तु-विन्यास मे प्रसाद की प्रतिमा सजीव हो उठी है और उनकी नाट्यकला ने अपना अपूर्व कौशल दिखाया है। इस नाटक में भारतीय और यूरोपीय दोनो नाट्य-कलाओ का सहज समन्वय है।[3] वास्तव मे प्रसाद जी के नाट्य-शिल्प की परिपूर्णता इसी नाटक मे उपलब्ध होती है।

वस्तुतत्त्व

गुप्त-साम्राज्य के शासक कुमारगुप्त की दो रानियाँ हैं, देवकी तथा अनन्तदेवी। देवकी से स्कन्दगुप्त का तथा अनन्तदेवी से पुरगुप्त का जन्म होता है। देवकी के महारानी होने के कारण कुमारगुप्त के पश्चात् स्वभावत: स्कन्दगुप्त ही राज्याधिकारी हो सकता था। अनन्तदेवी छोटी रानी होती हुई भी, राज्य-वैभव पुरगुप्त को दिलाना चाहती है। इधर युवराज स्कन्दगुप्त अपने अधिकारो के प्रति उदासीन होने के कारण राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लेते। वृद्ध कुमारगुप्त की विलास-जर्जर सत्ता को अनन्तदेवी भटार्क की सहायता से ले लेती है। छलपूर्वक कुमारगुप्त की हत्या के उपरान्त महारानी देवकी को अन्त:पुर में ही बन्दिनी बनाकर डाल दिया जाता है। युवराज स्कन्दगुप्त उज्जयिनी में पुष्यमित्रों को दबाने मे लगे हुए थे कि मालव से बन्धुवर्मा स्कन्दगुप्त से सैनिक सहायता माँगते हैं। भटार्क और अनन्तदेवी इसी बीच देवकी को मारने का प्रयास करते है, किन्तु स्कन्दगुप्त समय पर आकर अपनी माता को बचा लेते हैं।

उधर मालवराज बन्धुवर्मा मालव की सहायता करने के उपलक्ष मे स्कन्दगुप्त को मालव का साम्राज्य स्वेच्छा से दे देते हैं। यही कुमार गुप्त के भाई गोविन्दगुप्त

---

१. डा० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ४

२. डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ८४

३. डा० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २४३

भी उपस्थित होते हैं। स्कन्दगुप्त उन्हें महाबलाधिकृत बनाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु वृद्धावस्था के कारण गोविन्दगुप्त पद को अस्वीकार कर देते है। वह पद बन्धु-वर्मा को दिया जाता है।

स्कन्दगुप्त हूणों को सदैव के लिए भारत-भूमि से भगाने के लिए सेना का संगठन करते है। मालव में रहते हुए स्कन्द पहले विजया और बाद में देवसेना के प्रति आसक्त होते हैं। इसी बीच स्कन्द को अनन्तदेवी तथा पुरगुप्त के कुचक्र का पता लग जाता है। भटार्क सहित तीनों को बन्दी के रूप में स्कन्दगुप्त के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। माता देवकी की प्रेरणा से वे तीनों अपराधियों को क्षमा-दान करते हैं।

कुभा के रणक्षेत्र में हूणों के साथ स्कन्दगुप्त का अन्तिम और निर्णायक युद्ध होता है। मगध का महाबलाधिकृत भटार्क विश्वासघात करता है। कुभा के बाँध के अचानक टूट जाने से स्कन्दगुप्त ससैन्य कुभा की लहरों में बह जाता है। स्कन्दगुप्त के सहयोगियों—मातृगुप्त, पर्णदत्त, शर्वनाग इत्यादि—की अवस्था भी अत्यन्त शोच-नीय हो जाती है। पुत्र-शोक में देवकी का निधन हो जाता है। स्कन्दगुप्त कुभा की लहरों से बच जाने के उपरान्त भी एक विक्षिप्त व्यक्ति की भाँति आत्म-प्रतारणा करता है।

संयोग से स्कन्दगुप्त फिर से अपने सहयोगियों से मिल जाता है। भटार्क भी शुद्ध हृदय से स्कन्द का सहयोग करने का वचन देता है। विजया के रत्नगृह के मिल जाने से स्कन्दगुप्त का पुनः सेना का संगठन कर हूणों से युद्ध कर, सदैव के लिए हूणों को भगा देता है। विजयोपरांत वह राज्य पुरगुप्त को दे देता है। इस प्रकार सभी कष्टों को सहन करने के उपरान्त, आजीवन कौमार-व्रत ग्रहण करने की प्रतिज्ञा से स्कन्दगुप्त वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करता है।

कथानक का चुनाव इतिहास से किया गया है। अधिकांश में घटनाएँ तथा पात्र इतिहास-सम्मत हैं। परन्तु कथा को नाटकीय रूप देने तथा चरित्रों का पूर्ण उत्कर्ष दिखाने के लिए कल्पना से भी काम लिया गया है। कल्पित पुरुष-पात्रों में प्रपंचबुद्धि, खिंगल, मुद्गल, प्रख्यातकीर्ति तथा स्त्री-पात्रो मे जयमाला, देवसेना, विजया, कमला, रामा और मालती हैं। इसी प्रकार कल्पित घटनाओं में मालव द्वारा स्कन्द-गुप्त से सहायता माँगना, मालव पर हूणों का आक्रमण, अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि तथा भटार्क के षड्यन्त्र, कुभा के रणक्षेत्र में स्कन्दगुप्त का लहरों मे बह जाना, देवसेना और स्कन्दगुप्त तथा विजया का स्कन्दगुप्त की ओर आकृष्ट होना इत्यादि है। अतः शास्त्रीय शब्दावली में कथानक का चुनाव 'ख्यातवृत्त' से किया गया है।

'स्कन्दगुप्त' के 'फल' की ओर संकेत करते हुए डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का कथन है कि 'कौटुम्बिक कलह की शांति और राष्ट्रगौरव की रक्षा ही वह फल

है जिसकी प्राप्ति स्कन्दगुप्त तथा उसके अन्य सहयोगियों का लक्ष्य है।'[१] अतः आधिकारिक कथा में स्कन्दगुप्त तथा देवसेना द्वारा किया गया उद्योग है। पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी नाट्यकार की भाँति ही प्रसादजी ने इसमें अनेक प्रासगिक तथा छोटी-छोटी अन्तर्कथाएँ भी दी है। इन कथाओं में मालवराज बन्धुवर्मा की कथा, मातृगुप्त और मालिनी की कथा, शर्वनाग और रामा की कथा, विजया तथा अनन्त-देवी और पुरगुप्त आदि की कथाएँ सम्मिलित हैं। इसी के साथ स्कन्दगुप्त की राजनीतिक कथा के साथ-साथ जो उसकी व्यक्तिगत प्रेमकथा है, वह भी रोमांटिक दृष्टि-कोण के ही अनुसार है। भारतीय परम्परा के अनुसार प्रासंगिक कथा का लक्ष्य आधिकारिक कथा का विकास करता है। उसी के अनुरूप इन कथाओं ने भी स्कन्दगुप्त की राजनीतिक कथा का विकास किया है। मालवराज बन्धुवर्मा का उद्देश्य स्कन्दगुप्त के राजनीतिक उद्देश्य से भिन्न नहीं है। इसी उद्देश्य की समानता के कारण दोनों कथाओं में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस सम्बन्ध में डा० बच्चनसिंह[२] ने यह सत्य ही कहा है कि 'आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं को इस प्रकार समन्वित किया गया है कि न तो वे बिखर सकी हैं और न कोई कथा किसी पर हावी हो पायी है।'

भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप कुछ घटनाओं की मात्र सूचना दी गई है। इन सूच्य घटनाओं में भूत घटना महाबलाधिकृत वीरसेन के निधन का समाचार, कुमारगुप्त के निधन की सूचना, महाराजपुत्र गोविन्दगुप्त के निधन की सूचना तथा भावी घटनाओं की सूचना में गुप्त-साम्राज्य के शीघ्र विनाश आदि की घटनाएँ सम्मिलित है।

कथानक के विकास में भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप कार्यावस्थाओं तथा संधियों को तथा पाश्चात्य नाट्य-विधान के अनुरूप संघर्ष को समन्वित रूप में स्थान मिला है। इस नाटक में पाँच अंक हैं, जिनमें भारतीय विधान के अनुरूप पाँचों कार्यावस्थाएँ नहीं मिलती, प्रत्युत् संघर्ष की पाँच अवस्थाएँ इसमें अवश्य ही मिलती हैं। पहले अंक में 'प्रारम्भ' अवस्था मिलती है। इसमें फल का निदर्शन है। इसका रूप स्कन्दगुप्त तथा पर्णदत्त के वार्तालाप में मिलता है। नाटक का फल निम्न शब्दों में व्यक्त हुआ है।

,'त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिये, सतीत्व के सम्मान के लिये, देवता, ब्राह्मण और गौ की मर्य्यादा में विश्वास के लिये, आतंक से प्रकृवि को आश्वासन देने के लिये...'[३]

इसी प्रकार पाश्चात्य त्रासदी के अनुरूप प्रथम अंक में संघर्ष का आरम्भ मिलता

१. डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययद : पृ० ८६

२. डा० बच्चनसिंह : हिन्दी नाटक : पृ० ५८

३. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : प्रथम अंक : पृ० १०

है इसका प्रारम्भ स्कन्दगुप्त के चरित्रांकन से हुआ है जो युवराज होते हुए भी उदासीन है। आरम्भ में ही चक्रपालित गुप्तकुल के जिस अनियमित उत्तराधिकारी की बात कहता है वही संघर्ष का मूल कारण है। पहले अंक में स्कन्दगुप्त तथा देवकी के विरुद्ध अनन्तदेवी, भटार्क तथा प्रपंचबुद्धि के षड्यन्त्रों के कारण गृह-कलह तथा बाहरी आक्रमणों के कारण संत्रास का जन्म होता है। प्रथम अंक के अन्त तक विरोध तथा संघर्ष का रूप खुलकर सामने आ जाता है।

दूसरे अंक में प्रयत्नावस्था है—आन्तरिक कलह की शान्ति तथा बाहरी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा। इन दोनों कार्यों की पूर्ति केवल तभी सम्भव हो सकती थी, जबकि नायक स्कन्दगुप्त इसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्कन्दगुप्त का मालव के राज्य-सिंहासन पर बैठना, उसका इस दिशा में प्रयास करना है। स्कन्दगुप्त का निम्न कथन इसको स्पष्ट करता है :

"आर्य्य राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिए भगवान से प्रार्थना कीजिए...।"[1]

इसी प्रकार इस अंक में सघर्ष का विस्तार होता है। अनन्तदेवी राज्य का लोभ देकर भटार्क को तथा शर्वनाग को अपने षड्यन्त्र में सम्मिलित कर लेती है। देवकी की हत्या का प्रयास, विजया का महत्वाकांक्षी होकर अनन्तदेवी के दल में प्रवेश तथा सम्मिलित रूप से स्कन्दगुप्त तथा देवकी का विनाश करने के प्रयत्नों से संघर्ष का विकास हुआ है।

तीसरे अंक मे भारतीय प्राप्त्याशा की अवस्था नहीं मिलती। यहाँ तो स्कन्द के कुभा की लहरों में बह जाने के कारण फल-प्राप्ति की किंचित् आशा भी नहीं रहती। किन्तु इसके विपरीत इस अंक में पाश्चात्य नाट्य-विधान के अनुरूप संघर्ष की तीसरी अवस्था चरमसीमा मिलती है। इस अंक में अनन्तदेवी तथा भटार्क का, विदेशी आक्रमणकारियों से मिलकर, स्कन्दगुप्त के नाश करने का प्रयत्न, विजया द्वारा छल से देवसेना की हत्या करने का प्रयास, संघर्ष को नवीन एवं उनके चरम रूप में उपस्थित करते हैं।

चौथे अंक में भारतीय नियताप्ति भी नहीं मिलती। इस अंक में केवल स्कन्दगुप्त के जीवित होने का पता लगता है। पाश्चात्य संघर्ष की चौथी अवस्था-निर्गति—यहाँ अवश्य ही मिलती है। इसका प्रारम्भ विजया और अनन्तदेवी के पारस्परिक विरोध से होता है। महादेवी देवकी की मृत्यु के उपरान्त भटार्क भी शस्त्र त्याग देता है। संघर्ष का तनाव इस प्रकार कम होता जाता है।

पाँचवें अंक में स्कन्दगुप्त द्वारा आन्तरिक कलह की शान्ति तथा हूणों से भारत-भूमि को निरापद बनाने पर फल की प्राप्ति होती है और इसी प्रकार संघर्ष का भी अंत हो जाता है।

---

1. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : द्वितीय अंक : पृ० ७६

वास्तव में, भारतीय तथा पाश्चात्य विधानों को यहाँ एक साथ ग्रहण करने पर भी पाश्चात्य विधान को अपेक्षाकृत अधिक अपनाया गया है ऐसा प्रतीत होता है। नाटक में स्थान-स्थान पर नाटकीयता उत्पन्न करने के लिए आकस्मिकता का सन्निवेश किया गया है, यथा—निरीह नागरिकों को बर्बर हूण सैनिकों के अत्याचारों से बचाने के लिए मातृगुप्त का सहसा पहुँचना, मालव-दुर्ग मे स्कन्दगुप्त का सहसा जाना, देवकी की हत्या को ठीक समय पर स्कन्दगुप्त द्वारा बचा लेना आदि।

समग्र रूप से देखने पर कथा का रचनातंत्र त्रासदी के अनुरूप ही मिलता है। यद्यपि इसे भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप परिणाम में सुखांत बनाया गया है परन्तु प्रभाव तथा परिवेश में यह त्रासदी ही है। आचार्य वाजपेयी का यह कथन उचित ही प्रतीत होता है कि "स्कन्दगुप्त नाटक को परिणाम मे सुखांत बनाया गया है, पर उस का वस्तु-विन्यास दुःखांत नाटक की पद्धति पर रचा गया है।"[1]

चरित्र

स्कन्दगुप्त : 'स्कन्दगुप्त' नाटक का नायक स्कन्दगुप्त महान् कर्मयोगी, वीर, धीर, दानी, निर्भीक, कर्त्तव्यपरायण, स्वावलम्बी तथा नाटक में समस्त आशाओं का केन्द्र-बिन्दु है। वास्तव में वह भारतीय नाट्य-विधान के अनुकूल धीरोदात्त नायक कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध मे आलोचको का यह भी कथन है कि प्रसादजी ने स्कन्दगुप्त के चरित्र-निर्माण मे शेक्सपियरीय त्रासदी-नायक में पाए जाने वाले अन्तर्द्वन्द्व, विचारोन्मुखता तथा जीवन के प्रति अनासक्त कर्मयोग आदि के दृष्टिकोण को ही प्रस्तुत किया है। डा० शर्मा का यह कथन विचारणीय है कि "नाटककार ने उसमें पाश्चात्य व्यक्ति-वैचित्र्य और भारतीय साधारणीकरण का सुन्दर समन्वय किया है।"[2] डॉ० शर्मा के मत में व्यक्ति-वैचित्र्य की विशेषता तो ठीक प्रतीत होती है, परन्तु भारतीय साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रतिफलित होता हुआ नहीं दीखता। क्योंकि स्कन्दगुप्त की उदासीनता और अतिशय त्याग-वृत्ति के साथ सामान्य पाठक का साधारणीकरण नहीं हो सकता। प्रथम दृश्य में ही स्कन्दगुप्त की चिन्तनशील प्रवृत्ति का रूप हमें उसके निम्न कथन में मिलता है :—

"अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है।"[3]

अधिकारों के प्रति उदासीनता तथा चरित्र की अत्यधिक चिन्तन-शील प्रवृत्ति ही वास्तव में उसके दुःख का कारण है। यही उसके भाग्य-परिवर्तन के भी मूल में है।

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २४६
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ९६-९७
३. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० ६

पर्णदत्त की चेतावनी के पश्चात् भी स्कन्दगुप्त अपने अधिकारों के प्रति उदासीन ही रहता है। उसके चरित्र का यह एक दोष ही माना जाएगा, जिसका लाभ विपक्षी उठाते है। डॉ० विश्वनाथ मिश्र का यह कथन सत्य ही है कि "उसके चरित्र में हेमलेट की भाँति अत्यधिक चिन्तनशीलता की घातक त्रुटि है और उसी को लेकर वह जीवन के दुःखमय अवसान की ओर अग्रसर भी होता है।"[1]

वैयक्तिक जीवन में चिन्तनशील होने पर भी सामाजिक जीवन में वह निष्क्रिय नहीं है। एक वीर योद्धा की भाँति वह रणक्षेत्र में आक्रमणकारियों का सामना करता है। मालवराज की प्रार्थना पर स्कन्द का निम्न कथन उसके अदम्य साहस तथा अजेय वीरता का परिचायक है :

"अकेला स्कन्दगुप्त मालव की रक्षा करने के लिये सन्नद्ध है। जाओ, निर्भय निद्रा का सुख लो।"[2]

किन्तु यह वीरता की भावना, जीवन के प्रति अनासक्त होने के कारण उसके चरित्र को अधिक देर तक उर्जस्वित नहीं रख पाती। रह-रह कर स्कन्दगुप्त में विरक्ति का भाव उदय होने लगता है।

प्रसादजी ने जहाँ एक ओर स्कन्दगुप्त के जीवन में राजनीतिक संघर्षों को प्रस्तुत किया है, वहीं दूसरी ओर उसके व्यक्तित्व में प्रेम का संघर्ष भी प्रस्तुत किया है। व्यक्तिगत जीवन में स्कन्दगुप्त न तो विजया को प्राप्त कर सका और न देवसेना को। व्यक्तिगत जीवन की यह विफलता, राजनीतिक जीवन से उसे बाहर खींचती है। त्रासदीय नायक के अनुरूप ही वह आद्योपांत राष्ट्रसेवा करने पर भी निरन्तर विपदा-ग्रस्त होता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "स्कन्दगुप्त का सारा उपक्रम विफलता की ओर दौड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। स्कंदगुप्त के मार्ग में कठिनाइयाँ इतनी विराट् है कि स्कंदगुप्त का चरित्र इन विरोधी परिस्थितियों के समकक्ष खड़ा होकर हमारा दयापात्र बन जाता है।"[3] वास्तव में नाटक के अंत में यद्यपि स्कंदगुप्त फल की प्राप्ति कर लेता है, तथापि अपने व्यक्तिगत जीवन में वह निराशा तथा विफलता को ही प्राप्त करता है। स्कन्दगुप्त का अन्तिम कथन पाठकों के हृदय पर विषाद की लहर छोडता है :

"देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द ओह !!"[4]

निष्कर्ष रूप में, डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में 'फल-प्राप्ति' का यह सामाजिक रूप स्कन्दगुप्त के व्यक्तिगत जीवन से सर्वथा पृथक् है। वह विरागी

---

१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २४०
२. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : प्रथम अंक : पृ० १४
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २३५
४. जयशंकर प्रसाद : स्कंदगुप्त : पंचम अंक : पृ० १५४

राष्ट्रोद्धारक अन्त में अपने सामाजिक अनुष्टान मे पूर्ण सफल होकर भी व्यक्तिगत रूप में सर्वथा दरिद्र ही रह जाता है।[1]

देवसेना : नाटक की प्रधान स्त्री-पात्र तथा नायक की प्रिय देवसेना ही इस नाटक की नायिका है। यह काल्पनिक पात्र है। अतः नाटककार की कल्पना, भावुकता की साकार मूर्ति है। उसके चरित्र में भी प्रसादजी ने राष्ट्रीय तथा राजनीतिक संघर्ष को प्रस्तुत किया है। सामाजिक क्षेत्र में देवसेना 'देश के मान का, स्त्रियों की प्रतिष्ठा का, बच्चों की रक्षा का' दायित्व लेकर भी व्यक्तिगत जीवन में आत्मबलिदान, पीड़न को प्रस्तुत करती है। देवसेना का चरित्र एक आदर्श रमणी का चरित्र है। उसमें त्याग, उदारता, सहनशीलता, भावुकता तथा संवेदनशीलता के गुण पाए जाते हैं।

देवसेना का चरित्र वास्तव में एक अबूझ पहेली ही है। जयमाला के शब्दों में—

'तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ में नही आता? जब तू गाती है तब मेरे भीतर की रागिनी रोती है, और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।'[2]

चरित्र का यह वैचित्र्य वास्तव में पाश्चात्य नाट्य-विधान के प्रभाव-स्वरूप है। देवसेना प्रसाद जी की कोमल कल्पना की उत्तम सृष्टि है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मासपिण्ड की बनी हुई न होकर काल्पनिक तन्तुओं से बनी है। उसे विश्व के प्रत्येक परमाणु में एक सम दिखाई देता है। उसके चरित्र की सर्वाधिक आकर्षक विशेषता है—गान-प्रियता। वास्तव में देवसेना के गीत उसके हृदन के रुदन की साकार अभिव्यक्ति हैं :—

'जब हृदय में रुदन का स्वर उठता है, तभी संगीत की वीणा मिला लेती हूँ। उसी में सब छिप जाता है।'[3]

देवसेना के चरित्र में आदर्श गुणों के साथ पाश्चात्य विधान के अनुरूप व्यक्ति-वैचित्र्य भी मिलता है।[4] पाश्चात्य नाटकों के अनुरूप ही देवसेना के चरित्र में भी अन्तर्द्वन्द्व सन्निहित है। सामाजिक मर्यादाजन्य आत्मपीड़न तथा स्वाभाविक प्रेम-भावना का संघर्ष देवेसेना के चरित्र में मिलता है :

'मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, उठता है, में उसे मनाती हूँ।'[5]

---

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ९१

२. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : तृतीय अक : पृ०९६

३. वही, पृ० ९७

४. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १०१

५. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : तृतीय अंक : पृ० ९७

त्रासदीय नायिका की भाँति देवसेना भी देश-सेवा करते हुए एक राजकुमारी से भिखारिणी बनकर पाठक की सहानुभूति को आत्मसात कर लेती है। देवसेना का अन्तिम कथन त्रासदी की आत्मा को प्रस्तुत करता है :

'मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !'[1]

अन्य पात्र

अन्य पात्रों में मुद्गल का चरित्र भारतीय विदूषक-सा प्रतीत होता है। वह प्रत्येक स्थल पर हास्य प्रस्तुत नहीं करता, अपितु कहीं-कहीं कथा में भाग भी लेता है। उसका चरित्रांकन भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों नाट्य-विधानों के सम्मिश्रण से किया गया है। भटार्क के चरित्र में 'मेकबेथ की घातक त्रुटि, महत्वाकांक्षा तथा जीवन के सद् और असद् पक्ष का द्वन्द्व प्रगट हुआ है।'[2] भटार्क का चरित्र परिस्थितियों के आरोह-अवरोह में निरन्तर गिरता-पड़ता रहता है। इसी प्रकार विजया अपनी चंचल प्रवृत्ति के कारण कभी तो स्कन्दगुप्त, कभी भटार्क तथा कभी पुरगुप्त की ओर जाती है।

संवाद-योजना

प्रसादजी मूल रूप से नाट्यकार होने के साथ-साथ, कवि और एक दार्शनिक भी थे। उनके नाटकों में इसी कारण पात्र काव्यात्मक तथा दार्शनिकतापूर्ण भाषा का प्रयोग करते हैं। शेक्सपियर के पात्रों के समान ही पात्रों के आन्तरिक संघर्ष को प्रस्तुत करने के लिए स्वगत-भाषणों का प्रयोग किया गया है। नाटक के प्रारम्भ में ही स्कन्दगुप्त का स्वगत-कथन अधिकारों की प्रति उसके चरित्र की उदासीनता को प्रकट करता है। यद्यपि अधिकांश में स्वगत का प्रयोग शेक्सपियरीय पद्धति पर किया गया है, तथापि 'कही-कहीं इसे केवल रूढ़ि का पालन करने के लिए ही रखा गया है।'[3]

संवादों में अधिकांश में कवित्व तथा दार्शनिकता का प्राधान्य है जिसके कारण कहीं-कहीं सौन्दर्यवर्धन की अपेक्षा नाटकीय गति को क्षति भी पहुँची है। मातृगुप्त, धातुसेन तथा देवसेना के ही कथनों में कवित्व तथा दार्शनिकता का प्राधान्य रहा है। कवित्व के कारण वातावरण में तरलता तथा भावुकता का संचार हुआ है। देवसेना का निम्न कथन कवित्व का सुन्दर उदाहरण है :

'संगीत-सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदान की एक क्षीण गन्ध-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ, और उत्सव के पीछे के अवसाद

---

१. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : तृतीय अंक : पृ० ९७

२. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : २४४

३. डॉ० बच्चनसिंह : हिन्दी नाटक : पृ० ८७

इन सबों की प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी-जीवन ।'[१]

मातृगुप्त तथा धातुसेन के संवाद जहाँ गहन विचारात्मकता प्रस्तुत करते हैं, वहाँ संवादों की सहज गति में कमजोरी तथा किसी सीमा तक अस्पष्टता भी आ जाती है। कहीं-कहीं संवादों में कवित्व तथा दर्शन का आग्रह छोड़कर प्रसादजी ने अत्यन्त सीधे-सादे तथा प्रभावपूर्ण शब्दों का भी प्रयोग किया है। स्कन्द के कुभा की लहरों मे बह जाने का सुनकर देवकी का निम्न कथन कारुणिक प्रभाव की सृष्टि करता है :

'आह ! गया मेरा स्कन्द ! मेरा प्राण !!!'

भाषा-शैली

प्रसादजी की शैली मूलतः काव्यात्मक होने के कारण भाषा में अलंकरण की प्रवृत्ति मिलती है। प्रसाद जी की शैली पर प्रकाश डालते हुए आचार्य वाजपेयीजी का कथन है कि 'प्रसादजी ने अपने नाटकों को यथार्थवादी भूमि पर नहीं रक्खा, उनकी शैली में चमत्कार तथा काव्यात्मकता है।"[२]

'स्कन्दगुप्त' की भाषा में काव्यात्मकता के साथ-साथ अलंकरण की प्रवृत्ति भी मिलती है। मातृगुप्त का निम्न कथन इसका परिचायक है :

'अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी।'[३]

कहीं-कहीं भाषा में सामान्य शब्दों के स्थान पर दर्शन-शास्त्र के शब्द रख दिए गए है जिनसे रसानुभूति में बाधा उत्पन्न होती है :

'अहंकारमूलक आत्मवाद का खंडन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया।'[४]

समग्र रूप से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजी की भाषा साहित्यिक भाषा है, जिसमें कवित्व के कारण सहज आकर्षण तथा भावुकतापूर्ण वातावरण का निर्माण हो सका है।

रस-योजना

भारतीय दृष्टि से वीर रस तथा करुण रस की निष्पत्ति हुई है। भारतीय दृष्टि से सुखान्त तथा वीर रस प्रधान होते हुए भी समग्र प्रभाव की दृष्टि से एक प्रकार की निराशा ही मिलती है। प्रो० शिलीमुख का कथन है कि "प्रसाद की सुखान्त-भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण, अथवा मानव-प्रेम से भरित, शान्ति की होती है।"[५]

१. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : पंचम अंक : पृ० १३७
२. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २३७
३. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : प्रथम अंक : पृ० २३-२४
४. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त : चतुर्थ अंक : पृ० १२२
५. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० ६५

गीत-विधान

'स्कन्दगुप्त' में समग्र रूप में तेरह गीत हैं। इनमें छह गीतों की गायिका देवसेना है। इन गीतों के माध्यम से देवसेना के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। प्रो० शिलीमुख के मतानुसार 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना की गान-प्रवृत्ति उसके चरित्र के एक विशेष अंग को सूचित करती है।'[1] 'स्कन्दगुप्त' का अन्तिम गीत 'आह ! वेदना मिली विदाई' उनके समस्त नाट्य-साहित्य का एक प्रतिनिधि गीत है। अन्य गीतों में विजया का गीत तथा नर्तकियों द्वारा गाए गए गीत हैं।

नाट्य-रूप

अंत में रूप-विधान पर विचार करने पर यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि भारतीय नाट्य-विधान तथा पाश्चात्य नाट्य-विधान के सम्मिश्रण से प्रसादजी की कला का चरम उत्कर्ष इस नाटक में मिलता है। इसका प्रारम्भ तथा अन्त भारतीय नाट्य-विधान के अनुकूल नहीं है। नाटक का आरम्भ शेक्सपियरीय त्रासदी के विधान पर किया गया है। प्रारम्भ में ही नायक के चरित्र की दार्शनिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है। त्रासदी के गम्भीर वातावरण की सृष्टि के लिए प्रथम अंक मे भीषण अल्कापात तथा कोलाहल भय की सृष्टि करते हैं। नाटक में अनेक सत्पात्रों द्वारा बलिदान कराकर करुणा की सृष्टि की गई है, यथा—पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार तथा दण्डनायक द्वारा पुरगुप्त के राज्यारोहण के विरोध में आत्म-बलिदान करना। नाटक में पाश्चात्य त्रासदी के अनुरूप ही संघर्ष का प्राधान्य है। शक तथा हूणों के निरन्तर आक्रमण घटनाओं को जन्म देते हैं। तृतीय दृश्य में भय की सृष्टि के लिए श्मशान के दृश्य का आयोजन किया गया है।

घटनाओं के अतिरिक्त समग्र परिवेश तथा प्रभाव की दृष्टि से इसमें त्रासदी की मूल आत्मा विद्यमान है। प्रथम तीन अंकों के अन्त तक की विषयवस्तु विशुद्ध पाश्चात्य त्रासदी का उदाहरण है। डॉ० ओझा का मत है कि "यदि नाटक यहीं (३ अंक) समाप्त हो जाता तो अंग्रेजी नाट्य-शैली की भाँति यह एक हृदयद्रावी शोकान्त बन गया होता, किन्तु इस दशा में भारतीय पद्धति का निर्वाह न हो पाता"[2] वास्तव में फल प्राप्ति के पश्चात् भी प्रसादजी ने एक दृश्य रखा है। इस दृश्य में कोई कथा नहीं, स्कन्दगुप्त तथा देवसेना के वैयक्तिक जीवन का मात्र कारुणिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। आद्योपान्त जीवन-संघर्ष करते हुए भी अन्त में नायक-नायिका एक विशेष प्रकार की टीस लिए हुए विदा होते हैं। यहीं हमें करुणा मिलती है। डॉ० नगेन्द्र ने सत्य ही यह लिखा है कि "इसमें करुणा की सूक्ष्म कोमल स्मिति-

---

१. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० १२७
२. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० २४३

रेखा है—भय का अट्टहास नहीं।"[1] डा० विश्वनाथ मिश्र के मतानुसार "यह रचना-जीवन के सुख-दुःख से समन्वित अवसान के रूप को हमारे आगे प्रस्तुत करती है।"[2] अतः यह कहा जा सकता है कि यह नाटक भारतीय दृष्टिकोण को लेकर चलने पर भी पाश्चात्य दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित रहा है।

●

१. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ४
२. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २४९-५०

: ४ :

प्रसाद-रचित कामदियाँ

'कामना' तथा 'एक घूंट' के अतिरिक्त प्रसादजी के शेष नाटक ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य इतिहास की घटनाओं को प्रस्तुत करना नहीं, अपितु प्राचीन इतिहास के माध्यम से वर्तमान जीवन पर प्रकाश डालना रहा है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इस सम्बन्ध में यह सत्य ही कहा है कि "ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते हुए भी देश के तत्कालीन सम्पूर्ण राष्ट्रीय वातावरण का भी उन्होंने निर्माण किया है। उनके नाटकों में इसी कारण एक भास्वरता और सम्पन्नता है।[1]" शिल्प की दृष्टि से पिछले अध्याय में प्रसादजी के कुछ नाटकों को त्रासद तत्त्व की प्रधानता के आधार पर 'त्रासदी' के अन्तर्गत विवेचित किया गया है। उनके कुछ नाटकों में त्रासदी के विपरीत, भय तथा त्रास के स्थान पर आशा, सुख, जीवन के प्रति आस्था तथा समग्र प्रभाव की दृष्टि से सुख-सन्तोष मिलता है।

कामदी की परिभाषा में आधुनिक विचारकों ने हास्य रस को उसका अपरिहार्य अंग स्वीकार नहीं किया है। कामदी में जो व्यंग्य निहित होता है, वह भी बौद्धिक तथा मानसिक स्तर पर व्यक्त किया जाता है। कामदी मे मानव की त्रुटियों, उसकी सीमाओं तथा शक्तियों को चित्रित किया जाता है। प्रसादजी पर जिस प्रकार शेक्सपियरीय त्रासदी का प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार कामदी का भी। शेक्सपियरीय कामदियों के समान ही प्रसादजी के नाटक घटनाओं की अपेक्षा चरित्र को प्रधानता देते हैं—'सज्जन' में युधिष्ठिर की सज्जनता का परिचय दिया गया है। पात्रों का एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है – 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य का, 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी का। प्रसादजी की कामदियों में शेक्सपियरीय कामदी के समान भावुकता, करुणा तथा स्नेह की प्रधानता मिलती है। इन कामदियों में त्रासदी के समान ही पहले अनेक कठिनाइयों का प्रदर्शन होता है, परन्तु अन्त में नायक तथा अन्य मुख्य पात्र सुख और सन्तोष ही प्राप्त करते हैं। इन्हीं विषय तथा शिल्पगत विशिष्टताओं के आधार पर इस अध्याय में 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुवस्वामिनी' का विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २३३

सज्जन

वस्तुतत्त्व—इसका प्रथम प्रकाशन 'इंदु' में सन् १९१०-११ में हुआ था, और बाद में इसका संकलन 'चित्राधार' में किया गया। इसका कथानक 'महाभारत' की एक घटना पर आधारित है। कौरवों की कुटिल राजनीतिक चाल में फँस कर युधिष्ठिर आदि पाण्डव जब द्वैतवन में अनेक कष्टों का सामना करते हुए अज्ञातवास का समय पूरा कर रहे थे, दुर्योधन, दुःशासन तथा कर्ण इत्यादि ने मृगया के बहाने वन में पाण्डवों को नष्ट करने का विचार किया। अपने इस कुत्सित मन्तव्य को लेकर वे सभी द्वैतवन में आते हैं। द्वैतवन में सरोवर के निकट वे पहले नृत्य आदि के साथ उत्सव मनाते हैं, और इसी उत्सव में मृगया के बहाने पाण्डवों को नष्ट करने का संकेत देते हैं। द्वैत सरोवर के जिस वन में दुर्योधन आदि मृगया का प्रस्ताव रखते हैं, उसका रक्षक गन्धर्व चित्रसेन दुर्योधन को चेतावनी देता है कि वन में मृगया-निषेध है। परन्तु उसकी चेतावनी की अवहेलना कर दुर्योधन अपने साथियों सहित मृगया करने वन में जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गन्धर्व चित्रसेन तथा कौरवों का युद्ध होता है जिसमें दुर्योधन आदि को बन्दी बनाया जाता है।

इस घटना की सूचना भीम युधिष्ठिर को देता है। युधिष्ठिर समाचार को सुनकर पहले तो भीम पर थोड़े रुष्ट होते हैं और तत्पश्चात् अर्जुन को आदेश देते हैं कि वे जाकर कौरवों की मुक्ति कराएँ। कौरवों की मुक्ति के लिए अर्जुन को गन्धर्व सेना से युद्ध करना पड़ता है। युद्ध करते हुए ही अर्जुन तथा चित्रसेन एक दूसरे मित्र को पहचान जाते हैं। परिणामस्वरूप युद्ध बन्द हो जाता है। चित्रसेन अर्जुन के साथ सभी बन्दियों को लेकर धर्मराज युधिष्ठिर के पास आते हैं। युधिष्ठिर के आदेश से दुर्योधन, कर्ण इत्यादि के बन्धन खोले जाते है। युधिष्ठिर की उदारता तथा सज्जनता को देख कर सभी कौरव लज्जित हो जाते हैं। युधिष्ठिर दुर्योधन को धर्म तथा नीति के आधार पर राज्य-संचालन करने का उपदेश देते हैं। अन्त में विद्याधरियों द्वारा धर्मराज युधिष्ठिर के स्तवन के साथ कथा समाप्त होती है।

'सज्जन' का कथानक 'महाभारत' से ग्रहण किया गया है। नाटक में जिस घटना का उल्लेख है वह भी ऐतिहासिक तथ्यों से मेल खाती है। पात्रों में युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल, सहदेव, भीम, कर्ण, दुर्योधन, दुःशासन, चित्रसेन, द्रौपदी इत्यादि का उल्लेख 'महाभारत' में मिलता है। भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप यह 'ख्यातवृत्त' है। यद्यपि अधिकांश में इतिहास के बन्धनों को स्वीकार किया गया है, तथापि नाटकीयता की रक्षा के लिए कहीं-कहीं कल्पना से भी काम लिया गया है। इन काल्पनिक घटनाओं में चित्रसेन से दुर्योधन को बचाने के लिए अर्जुन को भेजना, भीम को जल लाने के लिए भेज कर कथा में शृंखलाबद्धता स्वीकार की गई है।[1]

इस नाटक में कथानक इतना संक्षिप्त है कि घटनाओं के आरोह-अवरोह

---

१. डॉ० प्रेमदत्त शर्मा : प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ० ८९

तथा नाटकीयता के लिए अधिक सम्भावना नहीं है । डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का इस सम्बन्ध में कथन है कि 'इन एकांकी रूपकों में न तो कथा की ही कोई विशेषता है न चरित्र-चित्रण की । प्रसिद्ध घटनाओं का इनमें नाटकीय रूप में उल्लेख मात्र है ।"[१] वास्तव में प्रसादजी ने इस रचना में भारतीय नाट्य-विधान को व्यापक रूप से अपनाने पर भी शैक्सपियर के प्रभाव को भी ग्रहण किया है । शेक्सपियरी कामदी में घटनाओं की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्व दिया जाता है । कामदी में जो घटनाएँ सन्निहित की जाती है, उनका उद्देश्य चरित्र पर प्रकाश डालना ही होता है । यही कारण है कि 'सज्जन' में जिस घटना को आधार बनाया गया है, उसका उद्देश्य युधिष्ठिर के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष को प्रस्तुत करना है ।

कथानक-निर्माण में अन्य नाटकों के समान ही इस प्रथम नाटक में ही 'संस्कृत-नाट्य-नियमों से परे जाने की प्रवृत्ति विद्यमान है ।'[२] शेक्सपियरीय कामदी के समान ही इसमें भी संघर्ष, कठिनाई है तथा विरोध का रूप मिलता है । नाटक के आरम्भ में ही दुर्योधन तथा गन्धर्व चित्रसेन का युद्ध दिखाया गया है । समग्र रूप से कथानक-निर्माण में प्रसादजी ने प्रारम्भिक रचना होने के कारण, भारतीय नाट्य-विधान की कार्यावस्थाओं, संधियों इत्यादि को स्थान नहीं दिया है । इसके विपरीत शेक्सपियर के प्रभाव के कारण कथानक की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व दिया है ।

चरित्र

घटनाओं की अत्यधिक न्यूनता के कारण ऐसी स्थितियों का सृजन नहीं किया जा सका है जिनसे पात्रों का चरित्र स्पष्ट रूप से खुलकर सामने आ सके । कामदी में विषय का निर्वाचन आदर्श पात्र को ध्यान में रखकर किया जाता है । 'सज्जन' में भी युधिष्ठिर के चरित्र की आदर्श स्थिति को ध्यान में रखा गया है । प्रारम्भिक रचना होने के कारण नाटककार 'पात्रों के चरित्र के विषय में मूक है ।'[३] युधिष्ठिर के चरित्र को अधिक आकर्षक बनाने के लिए, दुर्योधन के चरित्र पर व्यग्य करने के लिए प्रसादजी ने दो छोरों को ग्रहण किया है । एक ओर पतन की चरम सीमा पर जाने वाला दुर्योधन है जो अर्जुन की अस्त्र-प्राप्ति पर चिन्ता व्यक्त करता हुआ कहता है :

'जब से अर्जुन के अस्त्र-प्राप्ति की बात हमने सुनी है, तब से हमारे मन में बड़ी आसंका है ।'[४]

---

२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ४

३. डॉ० शान्तिगोपाल पुरोहित : हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन : पृ० १७३

३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ३

४. जयशंकर प्रसाद : सज्जन : प्रथम दृश्य : पृ० १०१

तो दूसरी ओर शत्रु पर भी दया करने वाला युधिष्ठिर :

'वत्स भीम ! शत्रु को दुःखी देखना और घृणित उपाय से बल-प्रयोग करने को क्रूरता कहते हैं। तुम वीर हो, वीरता को ग्रहण करो...'[१]

प्रसादजी ने भारतीय परम्परा को ग्रहण करते हुए विदूषक को भी इस नाटक में स्थान दिया है। विदूषक का मुख्य कार्य हास्य उत्पन्न करना ही नहीं, घटनाओं की समीक्षा करना भी रहा है। वास्तव में विदूषक का चरित्रांकन शेक्सपियर के क्लाउन (Clown) की भाँति किया गया है। दुर्योधन तथा कर्ण की गुप्त कुमंत्रणा पर वह टिप्पणी करता है :

'देखो केवल कर्ण से सलाह लेने वाले मनुष्यों की क्या दशा होती है।' यहाँ दुर्योधन की अनीति, अविवेकशीलता पर गहरा बौद्धिक व्यंग्य भी किया गया है।

संवाद-योजना—संवाद-योजना में प्रसादजी पूर्णरूपेण भारतीय परम्परा से प्रभावित रहे हैं। संवादों में गद्य के साथ-साथ पद्य का भी प्रयोग किया गया है। पहले एक पात्र गद्य मे बोलता है और फिर पद्य मे उसको दुहराता है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सम्पूर्ण नाटक में है। वास्तव में 'प्रसादजी' संस्कृत नाटकों तथा पारसी स्टेज दोनों से प्रभावित रहे हैं। प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' के शब्दों में 'कथोपकथन में इधर-उधर पद्य का भी सम्मिश्रण है, जैसे संस्कृत नाटकों में हुआ करता था। पात्रगण अपनी गर्वोक्ति की पुष्टि के लिए पद्य का व्यवहार करते हैं जो दृष्टान्त रूप में होता है।'[२] 'सज्जन' से एक उदाहरण दिया जाता है :

'वत्स भीम ! शत्रु को दुःखी देखना और घृणित उपाय से बल-प्रयोग करने को क्रूरता कहते हैं। तुम वीर हो, वीरता को ग्रहण करो—

अरिहूं से छल करे नहीं सम्मुख रन रोपै।
दृढ़ कर में करवाल गहै मिथ्या पर कोपै॥'[३]

वास्तव में संवादों की यह पद्यात्मक प्रणाली आधुनिक काल में अस्वाभाविक मानी गई है। इसमें पारसी स्टेज की तरह ही गद्य-पद्य युक्त कथोपकथन मिलते हैं। कई स्थलों पर मात्र पद्य का ही प्रयोग किया गया है। इसके उदाहरणों में द्वितीय दृश्य का दुर्योधन और कर्ण का संवाद, युधिष्ठिर और द्रौपदी के संवाद हैं। डॉ० ओझा का अभिमत है कि 'इससे पारसी थियेटरों का प्रभाव भी झलकता है।'[४]

स्वगत का प्रयोग भी प्राचीन नाट्य-शैली के अनुरूप किया गया है। दुर्योधन तथा कर्ण की उपस्थिति में ही विदूषक का स्वगत-कथन है। कहीं-कहीं व्यंग्य भी मिलता है।

---

१. जयशंकर प्रसाद : सज्जन : तृतीय दृश्य : पृ० १०८
२. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० ५४
३. जयशंकर प्रसाद : सज्जन : तृतीय दृश्य : पृ० १०८
४. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० २१४

भाषा-शैली—शेक्सपियरीय कामदी के समान ही प्रसादजी ने भी कामदियों में काव्यात्मक वातावरण को स्थान दिया है। डॉ० विश्वनाथ मिश्र का कथन है कि "कवि का स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण इसमें भी अभिव्यक्त हुआ है; और वह प्राकृतिक शोभा का वर्णन करने वाली पंक्तियों···की अवतारणा में देखा जा सकता है।"[१] इस नाटक में गद्य तथा पद्य दोनों ही मिलते है। पद्यों की भाषा ब्रज है, यथा—

'सहैं अनेकन कष्ट पै, लहैं सदा ही मान।
अरि सों दया न चाहते, साँचे वीर महान।'[२]

शैली की दृटि से यह विधान अधिक आकर्षक तथा कलात्मक नही माना गया है। डॉ० रामरतन भटनागर ने इस पर आक्षेप लगाया है कि "भाषा-शैली की दृष्टि से···उसने नाटकीय सौन्दर्य को एकदम नष्ट कर दिया है।"[३]

भाषा का परिमार्जित, काव्यात्मक तथा अलंकृत रूप हमें इसमें नहीं मिलता है। खड़ीबोली के वाक्य-विन्यास पर भी ब्रज का प्रभाव लक्षित होता है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"दुर्योधन से कहो कि मृगया खेलने का विचार यहाँ न करें।
उत्सव कर चुके, अब यदि अपना कुशल चाहें तो···"[४]

कहीं-कही भाषा अत्यन्त सुन्दर तथा अलंकृत भी हो गई है, किन्तु ऐसे स्थल पूरी रचना में एक-दो ही हैं।

गीत-योजना

सज्जन में दो गीत हैं। पहला गीत एक नर्तकी द्वारा दुर्योधन के पट-मंडप में गाया गया है और दूसरा गीत विद्याधरियों द्वारा समवेत स्वर मे गाया गया है। दूसरा गीत 'धर्म को राज सदा जग होवे' भरतवाक्य के समान है। गीत-विधान के सम्बन्ध में डॉ० दशरथ ओझा का मत है कि "प्रसादजी ने 'सज्जन' मे भारतेन्दुजी की शैली के अनुसार गीतों की रचना की।"[५]

अन्त मे इसके रूप-विधान पर विचार किया जाता है। इसका प्रारम्भ भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप नान्दी से किया गया है। नान्दी में शंकर की वन्दना की गई है :

"गुन गहत जौन शठता किये, सो क्षमहु नाथ वितरहु विजय।
हमि प्रमुदित पूजित विजय, सो जयशंकर जय जयति जय।।"[६]

---

१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २१६-१७
२. जशंकर प्रसाद : सज्जन : चतुर्थ दृश्य : पृ० ११०
३. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद का जीवन और साहित्य : पृ० ११०
४. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २७२
५. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २७२
६. जयशंकर प्रसाद : सज्जन : नान्दी : पृ० ६६

नान्दी के साथ ही भारतेन्दु-शैली के अनुरूप प्रस्तावना का भी आयोजन किया गया है। नान्दी के पश्चात् सूत्रधार आता है और वह अपनी स्त्री नटी से नाट्य के अभिनय का प्रस्ताव रखता है। वास्तव में शास्त्रीय दृष्टि को इसमें अधिक से अधिक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। प्रस्तावना के अन्तर्गत नाट्यकृति को संगीतात्मक पृष्ठभूमि देने के लिए गान का आयोजन किया जाता था। 'सज्जन' में भी उसी प्रकार नेपथ्य में मृदंग बजाया गया है। डॉ० पुरोहित के इस कथन से हम सहमत नही है कि "इस प्रकार की प्रस्तावना को नाट्य-लक्षण ग्रन्थों मे वर्णित प्रस्तावना के किसी भेद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ प्रसादजी प्राचीन परिपाटी का शास्त्रानुकूलन नही कर रहे हैं।"[१] इसके अन्त में जो समवेत स्वर में विद्याधरियों द्वारा 'धर्म को राज सदा जग होवे' गीत गाया गया है, उसके सम्बन्ध में आलोचकों का कथन है कि यह भरतवाक्य के ढंग का है। डॉ० शर्मा के शब्दों मे "अन्त में आकर लेखक ने 'सत्यमेव जयते' का ही प्रतिपादन किया है।"[२] इसी प्रकार प्रो० 'शिलीमुख' का भी यही कथन है कि "संस्कृत नाटकों के अनुसार 'सज्जन' का अन्त भरत-वाक्य से होता है।"[३]

किन्तु इतना होते हुए भी प्रसादजी ने पाश्चात्य नाट्य-विधान को भी अपनाया है। शेक्सपियरीय कामदी के अनुरूप इस कामदी का उद्देश्य है युधिष्ठिर की सज्जनता प्रदर्शित कर दुर्योधन की नीचता के कारण उस पर व्यंग्य करना। युधिष्ठिर की व्यापक सहानुभूति तथा करुणा की इसमें अभिव्यक्ति की गई है। कामदी में अनेक कष्टों, संघर्षों के पश्चात् सुख तथा सन्तोष, आशा तथा मंगल का विधान होता है। इसमें भी यही सब कुछ मिलता है। अन्त में भरतवाक्य द्वारा मंगल का ही जयघोष किया गया है। इसमें अरस्तू द्वारा प्रतिपादित कथानक के दो अंगों—अभिज्ञान तथा स्थिति-विपर्यय—का सम्मिलित रूप उस स्थल पर मिलता है जहाँ अर्जुन तथा चित्रसेन युद्ध करते समय एक-दूसरे को पहचान लेते हैं और फलस्वरूप युद्ध बन्द हो जाता है। इससे कथानक मे नाटकीयता आ गई है।

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि प्रसादजी प्रारम्भ में भारतेन्दुजी की शैली से अधिक प्रभावित थे, किन्तु शेक्सपियर का प्रभाव भी उन पर पड़ना शुरू हो गया था। प्रो० 'शिलीमुख' ने यह सत्य ही लिखा है कि "प्राचीन से अर्वाचीन की ओर जाने की प्रथम अवस्था का पता हमे लगता है।"[४]

कल्याणी-परिणय

प्रसाद जी के आरम्भिक नाटकों में 'कल्याणी-परिणय' तीसरा एकांकी रूपक

---

१. डॉ० शान्तिगोपाल पुरोहित : हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन : पृ० १७३
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ४
३. प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख' : प्रसाद की नाट्यकला : पृ० ५५
४. वही : पृ० ५३

है। इसका प्रकाशन आरम्भ में नागरी प्रचारिणी पत्रिका में सन् १९१२ में हुआ तथा बाद में इसे 'चित्राधार' में संकलित कर दिया गया।[1] शिल्प की दृष्टि से प्रारम्भिक रचना होने के कारण यह अधिक आकर्षक रचना नहीं है। 'कल्याणी-परिणय' में सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया का विवाह् चन्द्रगुप्त से कराया गया है। इसी कथानक को आगे चलकर 'चन्द्रगुप्त' के चौथे अंक में समाविष्ट किया गया है। डॉ० ओझा के शब्दों में 'प्रसादजी का सबसे प्रौढ़ नाटक 'चन्द्रगुप्त' इसी का विकसित रूप है।'[2]

वस्तुतत्व – इस नाटक में केवल एक अंक है। कुल मिलाकर २९ पृष्ठों की रचना होने के कारण कथा में अधिक विस्तार नही है। इसका प्रारम्भ चाणक्य से होता है। वह अपने कौटिल्य नाम की सार्थकता पर विचार करता हुआ दिखाई देता है। फिर अपने गुप्तचरों के साथ वह भावी कार्यक्रम पर विचार करता है। चाणक्य इस चिन्ता में लगा हुआ है कि किस प्रकार चन्द्रगुप्त की सहायता की जाए जिससे विदेशी सिल्यूकस परास्त भी हो जाए और अन्त मे दोनों में दृढ़ मैत्री सम्बन्ध भी स्थापित हो जाए। दूसरे दृश्य में चन्द्रगुप्त मृगया में दीख पड़ी सुन्दरियों की चर्चा कर अपना आकर्षण उनके प्रति व्यक्त करता है। इसी समय उसे सूचना ही मिलती है कि शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया है। वह तत्काल प्रत्याक्रमण के लिए अपने सेनापति चण्डविक्रम को आदेश देता है। युद्ध में सिल्यूकस की पराजय होती है और इधर प्रथम दर्शन में ही कार्नेलिया चन्द्रगुप्त पर आसक्त हो उस पर प्रेम प्रकट करती है। इसी समय सिल्यूकस को यह सूचना मिलती है कि सीरिया पर एंटिगोनस ने चढ़ाई कर दी है। एंटिगोनस के आक्रमण से त्रस्त होकर सिल्यूकस के सामने संधि के अतिरिक्त अघ्य कोई विकल्प नहीं था। संधि के साथ ही चाणक्य के कार्यक्रम के अनुरूप ही सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ होता है। चन्द्रगुप्त अपने श्वसुर की सहायता के लिए अपने सेनापति चण्डविक्रम को नियुक्त करता है।

इसका कथानक प्रसादजी ने इतिहास से ग्रहण किया है। इसके कथानक का मूल आधार वह ऐतिहासिक प्रवाद है जिसके अनुसार नन्द वंश के उच्छेदक चन्द्रगुप्त ने सिल्यूकस को हराकर उसकी पुत्री कार्नेलिया से विवाह किया था। अत: कथानक शास्त्रीय दृष्टि से 'ख्यातवृत्त' पर आधारित है। इस नाटक का फल है विजय प्राप्ति। इस फल का अधिकारी चन्द्रगुप्त है, अतः आधिकारिक कथा के रूप मे चन्द्रगुप्त की कथा है। स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित होकर प्रसादजी ने यहाँ वीररसात्मक कथानक में चन्द्रगुप्त तथा कार्नेलिया के प्रणय-भाव को प्रदर्शित किया है। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इसका कथानक संक्षिप्त तथा सरल होने के कारण अधिक नाटकीय नहीं हो पाया है। नाटक में प्रधान रूप से केवल एक ही घटना है। इस घटना में भी सूक्ष्म

---

१. डॉ० हरदेव बाहरी : प्रसाद साहित्य कोश

२. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २१५

अंश के आ जाने के कारण कथानक में अधिक आरोह-अवरोह की गुंजाइश नहीं रही है। डॉ० शर्मा के मतानुसार 'रूपकोचित वस्तु-विन्यास इस रचना में नही दिखाई पड़ता। दौड़ भी थोड़ी है और उसमें ऐसा सीधापन है कि वस्तु-विकास का ज्ञान नहीं हो पाता।'[1] भारतीय दृष्टि से प्रसादजी ने इसमें कुछ घटनाओं का उल्लेख ही किया है, यथा—चाणक्य द्वारा अपने भावी कार्यक्रम की सूचना देना, सिल्यूकस के आक्रमण की सूचना, सीरिया पर एंटिगोनस के आक्रमण की सूचना इत्यादि इसी के अन्तर्गत आती है।

प्रसादजी ने इस नाटक में यद्यपि भारतीय नाट्य-विधान को ही अधिकांश में ग्रहण किया है, तथापि शेक्सपियर का प्रभाव भी थोड़ा-बहुत उन पर अवश्य ही पड़ा है। नाटक में संघर्ष तथा षड्यन्त्र शेक्सपियरीय कामदी के ही अनुरूप है! कामदी में कथानक की विशृंखलता उसका एक विशेष गुण है। 'कल्याणी-परिणय' में भी कथानक का विकास बिना किसी उतार-चढ़ाव के अत्यन्त सीधे ढंग से चलता जाता है। किन्तु इसके विपरीत इसमे चाणक्य, चन्द्रगुप्त तथा सिल्यूकस का चरित्र अधिक प्रस्फुटित हुआ है।[2] समग्र रूप से वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि इसमें रचना की प्रौढ़ता न होने के कारण विन्यास सम्बन्धी कोई विशेष कौशल दृष्टि-गोचर नहीं होता।

चरित्र

कथानक के समान ही आलोचकों ने इसके चरित्र-चित्रण के संबंध में भी यही कहा है कि इसमें चरित्रों के व्यक्तित्व की बहुमुखता नही है। 'दो घटनाओं के बीच में रखकर इनके चरित्रों की मूल वृत्तियों का आभास दिया गया है।'[3] प्रमुख रूप से इसमें तीन पात्र है—चाणक्य, चन्द्रगुप्त तथा सिल्यूकस।

चन्द्रगुप्त : चन्द्रगुप्त का चरित्र भारतीय नायक के समान आदर्श गुणों से युक्त है। डॉ० भटनागर के शब्दों में 'चन्द्रगुप्त युद्ध-व्यवसाय में कुशल, वीर और व्यवहार-पटु है। उसमें क्षत्रियोचित तेज और उदारता का अभूतपूर्व मिश्रण है।'[4] वन में मृगया के समय दीख पड़ी सुन्दरियों के प्रति जो आसक्ति वह प्रकट करता है, उसमे चन्द्रगुप्त के प्रणयी रूप के दर्शन होते हैं। कामदी-नायक के अनुरूप ही सिल्यूकस के साथ युद्ध करने, कठिनाइयों को सहन करने के पश्चात् भी चन्द्रगुप्त को फल की प्राप्ति होती है। विजय-प्राप्ति के साथ-साथ चन्द्रगुप्त को प्रेमिका भी मिल जाती है।

चाणक्य : चाणक्य के चरित्र में बुद्धि, कर्मशीलता तथा दूरदर्शिता के गुण

---

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ८
२. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद का जीवन और साहित्य : पृ० १०८
३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० ७
४. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद का जीवन और साहित्य : पृ० १०८

पाए जाते हैं। आरम्भ में ही वह चन्द्रगुप्त के हित-साधन में लगा दिखाई देता है। वास्तव में चन्द्रगुप्त की प्रेरक शक्ति के रूप में चाणक्य का चरित्र उभरता है।

संवाद-योजना : इस नाटक की संवाद-योजना पूर्ववर्ती नाटक 'सज्जन' के सदृश है।[1] वास्तव में इस प्रकार की संवाद-योजना प्रसादजी पर भारतेन्दु युगीन नाट्यकला का प्रभाव स्पष्ट करती है।

रस

इसमें विजय-प्राप्ति प्रधान फल होने के कारण समस्त कार्य युद्ध से संबंधित हैं। चन्द्रगुप्त उत्साह स्थायीभाव का आश्रय है तथा सिल्यूकस इसका आलम्बन। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त तथा कार्नेलिया के प्रसंग में शृंगार रस व्यक्त हुआ है। इस प्रकार वीर रस अंगी तथा शृंगार रस अंग रूप में इस नाटक में आया है।

नाट्य-रूप

रूप-विधान की दृष्टि से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि इसका प्रारम्भ भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप नान्दी-पाठ से हुआ है। इसी प्रकार अन्त में कल्याणी-परिणय से संबंधित एक मंगल-गान भरत-वाक्य के आधार पर रखा गया है। रचना पर थोड़ा-बहुत शेक्सपियर का प्रभाव भी लक्षित होता है। इसके आरम्भ में चाणक्य द्वारा जो नाम की सार्थकता पर विचार किया गया है, वह उसके चरित्र पर प्रकाश डालने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होता है। शेक्सपियर के नाटकों में प्रारम्भ में इसी प्रकार प्रधान पात्र का चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इसी के साथ नाटक में जो बाह्य-संघर्ष है वह भी पाश्चात्य-विधान के ही कारण है। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि इस रचना में शिल्प की दृष्टि से कोई विशेष उल्लेखनीय तत्त्व नहीं मिलता।

जनमेजय का नागयज्ञ

प्रसादजी के प्रौढ़कालीन नाटकों में 'जनमेजय का नागयज्ञ' सम्मिलित किया जाता है। इसका प्रकाशन सन् १९२६ में हुआ था। यह प्रसादजी का पौराणिक नाटक है। यद्यपि यह प्रौढ़काल की रचना है, तथापि शिल्प की दृष्टि से यह अन्य प्रौढ़कालीन नाटकों के समान नहीं है। डॉ० ओझा के शब्दों में 'कला-संविधान की दृष्टि से यह नाटक प्रौढ़काल की रचना होने पर भी शिथिल प्रतीत होता है।'[2]

वस्तुतत्त्व :

कौरव तथा पाण्डवों के पारस्परिक कलह के कारण कुरुक्षेत्र में जो महाभारत हुआ उसमें पाण्डवों की विजय होने पर कुछ असभ्य जातियों ने पाण्डवों के विरुद्ध

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २१५
२. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २३३

सर उठाना शुरू किया। इन विद्रोही जातियों में नाग जाति अत्यन्त शक्तिशाली तथा बर्बर जाति थी। अर्जुन ने खाण्डव वन का दाह करके इस नाग जाति को गान्धार की ओर भागने के लिए विवश कर दिया। गान्धार में नाग जाति ने तक्षशिला को अपनी राजधानी बनाया। कुछ काल तक मौन रहने के उपरान्त इस जाति के नाग राजा तक्षक ने परीक्षित को मार डाला। इसके पीछे परीक्षित के पुरोहित काश्यप का भी हाथ था। इसी काल में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का भी संघर्ष होने लगा था, तथा ब्राह्मणों ने नाग जाति को सहायता देना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने जब सिंहासन-भार ग्रहण किया तो उस समय तक एक ओर आर्यों तथा नागों में संघर्ष था, तथा दूसरी ओर क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों का। प्रसादजी ने इस प्रकार इस नाटक में एक विशाल फलक को ग्रहण करने का प्रयत्न किया है।

यादवी कुकुरी सरमा ने नाग सरदार वासुकि से विवाह किया तथा नाग जाति की मनसा ने ऋषि जरत्कारु से। आरम्भ में ही मनसा तथा सरमा के वार्तालाप से सरमा की सहृदयता, मानव-शांति के लिए प्रयत्नशीलता तथा मनसा की आर्य-जाति से प्रतिहिंसा की भावना प्रकट होती है। सरमा अर्जुन द्वारा किए गए खाण्डव-दाह का समर्थन करती है, मनसा उसका प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा। इसके उपरान्त उत्तंक तथा वेद-पत्नी दामिनी का प्रसंग आता है, जिसमें उत्तंक के ब्रह्मचर्य तथा दामिनी के विलास का चित्रण किया गया है। इसके उपरान्त जनमेजय तथा तुर के वार्तालाप से यह स्पष्ट किया गया है कि पुरोहित काश्यप ने जनमेजय को तक्षशिला पर आक्रमण करने के लिए रोका था। जनमेजय के तक्षशिला-विजय के उपरान्त उसका ऐन्द्रमहाभिषेक कराने के लिए काश्यप नहीं आता। इस कार्य को तुरकावषेप ही सम्पन्न करते हैं, परन्तु दक्षिणा काश्यप ही लेता है। इसी अवसर पर दामिनी के लिए उत्तंक रानी वपुष्टमा से नागों के मणि-कुंडलों की याचना करता है, जिसे रानी स्वेच्छा से दे देती है।

इधर मनसा की कटु तथा विषाक्त वाणी को न सुन सकने के कारण सरमा नागकुल को छोड़कर फिर से अपने पुत्र माणवक के साथ आर्य-कुल में आती है। क्षुधा-पीड़ित माणवक यज्ञशाला में रखे घी के पात्र को जूठा कर देता है, जिससे जनमेजय के भाई उसे पीटते है। न्याय की माँग करने के लिए सरमा जनमेजय के पास आती है, परन्तु जनमेजय सरमा का तिरस्कार करता है। यहाँ जनमेजय का नाग-विद्रोही भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। सरमा और माणवक दोनों ही अपमानित होकर राजमहल से बन में चले आते हैं। यहाँ माणवक राजा से प्रति-शोध लेने के लिए सरमा को अकेली छोड़कर चला जाता है।

उत्तंक की मणिकुण्डल लेने वाली घटना काश्यप तक्षक को बताता है तथा तक्षक बन में सोते हुए उत्तंक की हत्या करने लगता है कि सरमा आकर उसे बचाती है। उत्तंक यहीं से तक्षक का विरोधी हो जाता है। प्रथम अंक के अन्त मे मृगया करते-करते भूल से जनमेजय से ऋषि जरत्कारु की हत्या हो जाती है।

दूसरे अंक में तक्षक की पुत्री मणिमाला तथा मनसा के पुत्र आस्तीक का काव्यात्मक तथा दार्शनिकतायुक्त वार्तालाप है। यहीं जनमेजय मणिमाला को देखते ही उस पर आसक्त हो जाता है। इधर वेद-पत्नी दामिनी वन में माणवक से मिलती है और उत्तंक से प्रतिशोध लेने के लिए तक्षक के पास पहुँचती है। उत्तंक भी तक्षक से प्रतिशोध लेने के लिए जनमेजय के पास पहुँचता है। उत्तंक जनमेजय को अत्यन्त उत्तेजित करके अश्वमेध के स्थान पर नागयज्ञ करने को प्रेरित करता है। काश्यप तक्षक तथा अन्य ब्राह्मणों के साथ मिलकर जनमेजय के साम्राज्य को ही ले लेने की बात कहता है। यहाँ सरमा इसका विरोध करती है। इतने में मनसा आकर यह सूचना देती है कि जनमेजय की सेना तक्षशिला पहुँच गई है तथा नागों को जिन्दा जलाया जा रहा है।

अन्तिम अंक में वेदव्यास तथा जनमेजय का नाटकीयता विहीन वार्तालाप है। वेदव्यास तर्क के बल पर यह सिद्ध कर देते है कि जनमेजय को अश्वमेध यज्ञ करना ही पड़ेगा। जनमेजय का अश्व अन्य दिशाओं से विजयोपहार लेने के उपरान्त जब नाग-क्षेत्र में प्रवेश करता है तो मनसा की उत्तेजना से नाग अश्व को रोक लेते हैं। आर्य-सैनिकों तथा नागों में संघर्ष होता है जिसमें नागों की पराजय होती है और मनसा पश्चात्ताप करती है। काश्यप षड्यन्त्र से यज्ञ के अवसर पर रानी वपुष्टमा के साथ अश्व को ले भागने की कुमन्त्रणा तक्षक से करता है जिसे सरमा जान लेती है। यहीं सरमा तथा तथा आस्तीक का मिलन होता है। सरमा काश्यप की योजना आस्तीक को बताकर बचने का उपाय सोचती है। आस्तीक तथा मणिमाला का पत्नीशाला पर वार्तालाप होता है और मणिमाला योद्धा-वेश में अन्दर चली जाती है। इतने में माणवक भी आ जाता है। यज्ञशाला से मूर्च्छित वपुष्टमा को कई नाग बाहर लाते हैं। माणवक तथा सरमा वपुष्टमा को लेकर वेदव्यास के आश्रम पर चले जाते हैं और तक्षक तथा मणिमाला बन्दी बनाए जाते हैं। जनमेजय अपनी रानी के अपहृत हो जाने पर अत्यन्त क्रुद्ध होता है और सभी ब्राह्मणों को निर्वासित कर, नागों को हवन-कुण्ड में डालने की आज्ञा देता है। नागयज्ञ प्रारम्भ हो जाता है। इतने में वेदव्यास, मनसा, सरमा, माणवक तथा आस्तीक आते हैं। आस्तीक पितृ-वध का प्रतिफल माँगता है। वेदव्यास न्याय की उद्घोषणा करते हैं। सरमा नाग कन्या मणिमाला का परिणय जनमेजय के साथ करा दो जातियों में होने वाले संघर्ष की इतिश्री कराती है। काश्यप का एक नाग बध कर देता है। जनमेजय ब्राह्मणों से कटु वचनों के कहने की क्षमा माँगता है।

इसकी कथा अनेक पुराणों में प्राप्त होती है। डॉ० देवर्षि सनाढ्य के मतानुसार प्रसादजी ने अनेक पुराणों का मन्थन कर 'जनमेजय का नागयज्ञ' की रचना की है। इस कथा का उपयोग प्रसाद ने इतिहास अथवा पुराणेतिहास के रूप में किया

है ।[1] इन पुराणों में 'महाभारत', 'भागवत' तथा 'मत्स्य पुराण' सम्मिलित है । इस सम्बन्ध में प्रसादजी का कथन है कि 'इस नाटक में ऐसी कोई घटना समाविष्ट नहीं है जिसका मूल भारत और हरिवंश में न हो ।'[2] प्रमुख घटनाएँ तथा पात्र ऐतिहासिक होते हुए भी घटनाओं की शृंखला को ठीक रखने तथा नाटकीयता की रक्षा के लिए कुछ कल्पना से भी काम लिया गया है । इन काल्पनिक घटनाओं में माणवक का गुप्त रूप से जनमेजय की हत्या का प्रयत्न, पुरोहितों पर किया गया व्यंग्य, मणिमाला तथा जनमेजय का पूर्वानुराग, दामिनी की उत्तंक के प्रति प्रतिशोध की भावना, काश्यप का आर्य साम्राज्य छीनने का षड्यन्त्र आदि घटनाएँ सम्मिलित हैं ।[3] परन्तु इनकी प्रकृति मूलतः ऐतिहासिक ही रही है । अतः कथानक का चुनाव भारतीय दृष्टि से 'ख्यातवृत्त' से ही किया गया है ।

इसके वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि से विचार करने पर अनेक दोष दिखाई देते है । इन दोषों का एक कारण तो यह है कि 'इसका फलक काफी विस्तृत है । सम्पूर्ण विस्तृति को रंगमंच पर उतार लेने की आकांक्षा नाटकीय वस्तु-योजना को त्रुटिपूर्ण बना देती है ।'[4] दूसरा कारण यह है कि इसका फल तथा उद्देश्य सुस्पष्ट नहीं है । स्थूल रूप से इसमें आर्यों तथा नागों का जातीय संघर्ष दिखाया गया है । किन्तु यह संघर्ष इतने व्यापक रूप में चित्रित किया गया है कि, आचार्य वाजपेयी के शब्दों मे यह 'नाटक की अपेक्षा उपन्यास का माध्यम अधिक उपयुक्त होता ।'[5] इस नाटक की आधिकारिक कथा जनमेजय के नागयज्ञ की कथा है, परन्तु नाटककार ने नागों की कथा, जातीय संघर्ष की कथा केवल नागों की ओर से कही है । इसके साथ ही इसमें कई घटनाएँ ऐसी हैं जिनका मुख्य व्यापार से प्रत्यक्षतः सम्बन्ध नहीं है । इसी कारण व्यापार-विहीन घटनाओं तथा कार्यो के कारण घटनाएँ बिखरी हुई हैं । डॉ० ओझा का यह कथन उचित ही है कि 'जाति संघर्ष के निवारण तथा दार्शनिक चिन्तन में नाटककार इतना तन्मय हो गया है कि उसे कार्य-अवस्था, अर्थ-प्रकृति और पंच-संधियों के निर्वाह का ध्यान ही नही रह जाता । घटनाओं की विभिन्न शृंखलाओं के जोड़ने में व्यस्त होने से वे कथानक में आरोह-अवरोह लाने का अवकाश ही नही पा सके है ।'[6] अतः भारतीय दृष्टि से वस्तु-विन्यास सदोष है ।

वास्तव में यह नाटक भारतीय-विधान की अपेक्षा पाश्चात्य-विधान से अधिक प्रभावित है । शेक्सपियरीय कामदी में घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व दिया

---

१. डॉ० देवर्षि सनाढ्य : हिन्दी के पौराणिक नाटक : पृ० १६७
२. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : प्राक्कथन : पृ० ६
३. डॉ० प्रेमदत्त शर्मा : प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ० ९१
४. डॉ० बच्चनसिंह : हिन्दी नाटक : पृ० ५५
५. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २४१
६. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २३४

जाता है। इसमें भी कामदी के अनुरूप ही कथानक के कार्य-कारण सम्बन्ध पर अधिक बल नही दिया गया है। पाश्चात्य-विधान में संघर्ष से ही कथा का विकास होता है। इस नाटक का प्रारम्भ भी विरोध से हुआ है। पहले अंक के पहले ही दृश्य में सरमा और मनसा दो विरोधी विचारधाराएँ लेकर आती हैं। मनसा का उद्देश्य आर्य जाति के प्रति प्रतिहिंसा तथा प्रतिशोध है तो सरमा का उद्देश्य है 'विश्व-मैत्री तथा साम्य।' पहले अंक के पहले दृश्य मे कामदी के अनुरूप मात्र मुख्य पात्रों का परिचय है, वास्तविक घटना नही। विरोध का क्रमशः विकास होता गया है। जनमेजय द्वारा सरमा तथा उसके पुत्र माणवक का अपमान करना इसका उदाहरण है। माणवक द्वारा जनमेजय से प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा नायक के विरुद्ध कठिनाइयों तथा संघर्ष को नया आयाम देती है। नायक के विरोध में नाग राजा तक्षक का निम्न कथन प्रतिहिंसा का ज्वलन्त उदाहरण है :

'प्रतिहिंसे ! तू बलि चाहती है, तो, ले, मैं दूँगा। छल, प्रवंचना, कपट, अत्याचार, सब तेरे सहायक होंगे। हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ बनेंगी। रक्तरंजित हाथों से तेरा अभिषेक होगा।'[1]

पहले अंक के सातवें दृश्य मे जनमेजय से मनसा के पति जरत्कारु की भूल से हत्या हो जाती है। इसी के प्रायश्चित्त के लिए अश्वमेध यज्ञ करने का आयोजन किया जाता है, जो आगे चलकर नाग यज्ञ में परिवर्तित हो जाता है।

दूसरे अंक में विरोध का विकास तथा चरम सीमा है। इसका विकास दामिनी की तक्षक से दुरभिसंधि से होता है। कथानक में शेक्सपियरीय कामदी के अनुरूप ही काश्यप के आन्तरिक षड्यन्त्र है। जनमेजय को इन षड्यन्त्रों से अवगत कराते हुए उत्तंक का कथन है :

'मैं सब सुन चुका हूँ, और जानता हूँ कि कुछ दुर्बुद्धियों ने यादवी सरमा, तक्षक तथा आपके पुरोहित काश्यप के साथ मिलकर एक षड्यंत्र रचा है।'[2]

विकास अपने चरमोत्कर्ष पर उस स्थल पर पहुँचता है जब जनमेजय क्रोध में आकर तक्षक सहित समस्त नागों को हवनकुण्ड मे जलाने की आज्ञा देता है। इस स्थल पर व्यास आकर जनमेजय को शान्त करते है। इस संदर्भ में डॉ० बच्चनसिंह ने यह आक्षेप लगाया है कि 'अन्त मे व्यास की अवतारणा द्वारा नाटक की जो परिसमाप्ति की गई है, उससे नाटकीय 'क्लाइमेक्स' बहुत कुछ निष्प्रभ हो गया है।'[3]

कामदी का विषय नितांत काल्पनिक न होकर यथार्थवादी होता है। प्रसाद जी ने इस नाटक में यद्यपि भारत काल के उपरान्त होने वाले आर्यों तथा नागों के संघर्ष को प्रस्तुत किया है, तथापि इस कथा का सम्बन्ध प्रसाद-कालीन भारत से भी है।

---

१. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : पहला अंक : पाँचवाँ दृश्य : पृ० ३२
२. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : दूसरा अंक : तीसरा दृश्य : पृ० ५०
३. डॉ० बच्चनसिंह : हिन्दी नाटक : पृ० ६६

सन् १९२६ में होने वाले हिन्दू-मुस्लिम दंगे पर भी प्रकाश डालना प्रसादजी का उद्देश्य हो सकता है। डॉ० ओझा ने इस सम्भाव्यता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'आश्चर्य नहीं कि तत्कालीन हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष को देखकर प्रसादजी को इस समस्या के सुलझाने का विचार मन में आया हो। इस नाटक की रचना के समय हमारे देश में आर्य-अनार्य, हिन्दू-मुसलमान कलह की ज्वाला प्रचण्ड रूप धारण कर रही थी।'[1] वास्तव में इस नाटक में हिन्दू-मुस्लिम एकता की ध्वनि तथा एक राष्ट्र की साधना का अनुरोध है।[2] सारांश में वस्तु-विन्यास में भारतीय-विधान की अपेक्षा प्रसादजी पाश्चात्य-विधान से अधिक प्रभावित रहे हैं।

चरित्र

कथावस्तु के समान ही आलोचकों ने इसके चरित्र-चित्रण पर भी आक्षेप लगाए हैं। डॉ० शर्मा का कथन है कि 'चरित्रांकन में जैसा विकास-क्रम दिखाई पड़ना चाहिए वैसा इस नाटक में नही हो सका है।'[3] इसी प्रकार डॉ० भटनागर का यह आक्षेप है कि 'पात्रों की इतनी भीड में चरित्र-चित्रण का अवकाश मिलना कठिन है।'[4] वास्तव मे उक्त आक्षेप पूर्णरूपेण सत्य नहीं हैं। प्रसादजी ने वास्तव में इस नाटक में घटनाओं की अपेक्षा चरित्र को ही अधिक महत्त्व दिया है। कामदी में चरित्र की सतहें जिस प्रकार एकदम खुलकर सामने आती हैं उसी प्रकार प्रत्येक मुख्य पात्र का चरित्रांकन किया गया है। प्रस्तुत विवेचन में इस पर विचार किया गया है।

जनमेजय : परीक्षित का पुत्र जनमेजय इस नाटक का नायक है। वह एक वीर, उदार, गुरु की आज्ञा पालन करने वाला, क्षमाशील तथा सहृदय है। शास्त्रीय शब्दावली मे उसे धीरोदात्त की संज्ञा दी जा सकती है। जनमेजय अपनी वीरता के बल पर ही तक्षशिला से बर्बर नाग जाति को हटाकर उन पर विजय प्राप्त करता है। इसी प्रकार उसमें गुरुओं के प्रति श्रद्धा भाव उत्तंक से गुरुकुल के कुशल-समाचार पूछने में, तुर के कहने पर काश्यप को ऐन्द्रमहाभिषेक की दक्षिणा देने में, वेदव्यास के कहने पर तक्षक तथा ब्राह्मणों को क्षमा करने में व्यक्त हुआ है। उत्तंक द्वारा तक्षक के बहुमूल्य मणिकुण्डल देने में जनमेजय की उदारता तथा दानशीलता प्रकट होती है। इस प्रकार जनमेजय का चरित्र भारतीय-विधान के अनुरूप धीरोदात्त नायक का चरित्र है।

जनमेजय का चरित्रांकन वास्तव में प्रसादजी ने पाश्चात्य-विधान के अनुरूप

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २३२
२. डॉ० वेदपाल खन्ना 'विमल' : हिन्दी नाटक-साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन : पृ० १९३
३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २२६
४. डॉ० रामरतन भटनागर : प्रसाद का जीवन और साहित्य : पृ० ११४

ही अधिक किया है। कामदी में नायक की कुछ ऐसी स्वभावगत त्रुटियाँ दिखाई जाती है, जिनसे हम उसके प्रति अपनी सहानुभूति खो देते हैं। जनमेजय के चरित्र में नागों के प्रति परम्परागत द्वेष, अत्यधिक चिन्तनात्मक प्रवृत्ति उसे कर्मक्षेत्र से बाधित करती है। नाटक में अनेक स्थलों पर उसे कर्म करने पर प्रेरित किया जाता है। वास्तव मे इस प्रकार का चरित्रांकन पाश्चात्य प्रभाव के कारण ही है। शेक्सपियरीय नायकों के समान ही जनमेजय भी विरक्त होकर कहता है :

'देवि ! यह साम्राज्य तो एक बोझ हो गया है !'

इसी प्रकार जनमेजय नियति को ही सर्वाधिक प्रबल शक्ति मानकर, समस्त कर्मों के पीछे उसको प्रेरक शक्ति के रूप में स्वीकार करता है :

'सचमुच मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है।'[1]

त्रासदी नायक के ही समान कामदी नायक के जीवन में भी अनेक कष्ट आते हैं, परन्तु वे कष्ट नायक के जीवन को अन्ततः अवसादपूर्ण, वैराग्ययुक्त नहीं बनाते। जनमेजय के जीवन में भी राज्य-भार ग्रहण करने पर अनेक कष्ट तथा विपत्तियाँ आती हैं। प्रारम्भ में ही एक ओर नाग-जाति का विद्रोह तथा दूसरी ओर काश्यप आदि ब्राह्मण वर्ग का विद्रोह नायक को कष्टों मे डाल देता है। वपुष्टमा का अपहरण इसी विद्रोह-भावना की अभिव्यक्ति है। इन कष्टों के होते हुए भी अन्ततः नायक सभी विरोधों को शान्त करने में सफल हो जाता है। भौतिक तथा मानसिक दोनों दृष्टियों से वह सुख-लाभ करता है। दोनों जातियों के विरोध को अनन्त काल तक शान्त रखने के लिए 'निर्मल कुसुम' मणिमाला की प्राप्ति नायक को होती है।

मणिमाला : मणिमाला इस नाटक की नायिका है। नायिका के चरित्रांकन में प्रसादजी ने मानवीय गुणों—करुणा, सहानुभूति, मानवतावादी भावना—को ही स्थान दिया है। आर्यों तथा नागों के परम्परागत द्वेष को सदा के लिए समाप्त कर देने वाली मणिमाला बर्बर, हिंसक नागराज तक्षक की कन्या है। पहले ही दर्शन में उसके करुण स्वभाव का चित्र उपस्थित किया गया है। मणिमाला का कथन है :

'हम लोगों के कोमल प्राणों में एक बड़ी करुणामयी मूर्च्छना होती है। संसार को उसी सुन्दर भाव में डुबा दूँ, उसी का रंग चढ़ा दूँ, यही मेरी परम कामना है।'[2]

वास्तव में 'मणिमाला नाग जाति में जन्म लेकर भी नाग जाति की बर्बरता से पृथक् आर्य-संस्कृति से ओतप्रोत रमणी है।'[3] उसके चरित्र की मूलभूत विशेषता है भावुकता। वह भावुकता उसका भाई आस्तीक भी नहीं समझ पाता।

मणिमाला प्रथम दर्शन में ही जनमेजय पर आसक्त हो जाती है। यह जानकर भी कि जनमेजय शत्रु-पक्ष का सम्राट् है, वह आत्म-विभोर होकर कह उठती है :

---

१. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : प्रथम अंक : सातवाँ दृश्य : पृ० ४०

२. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : दूसरा अंक : पहला दृश्य : पृ० ४१

३. परमेश्वरीलाल गुप्त : प्रसाद के नाटक : पृ० ३८

'ऐसी उदारता व्यंजक मूर्ति, ऐसा तेजोमय मुख-मण्डल। यह तो शत्रुता करने की वस्तु नहीं है।'[1]

मणिमाला केवल भावलोक में विचरण करने वाली रमणी ही नहीं, अपितु संकट आने पर प्राणों पर भी खेल जाती है। अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर वह योद्धा बनकर संकट को अपने ऊपर ले लेती है।

अन्य पात्र

इस नाटक मे यद्यपि पात्रों की संख्या अधिक है तथापि दो ऐसे पात्र है, जिनका चरित्रांकन नाटककार ने मनोयोगपूर्वक किया है। सरमा और मनसा का चरित्र वस्तुतः विरोधी परिस्थितियों के कारण अन्य पात्रों की अपेक्षा अधिक उभरा है।

सरमा—कुकुर वंशीय यादवी सरमा के चरित्र की विशेषताएँ हैं—विवेक-शीलता, स्वाभिमान, नारी-सुलभ प्रेम-भावना। इन सबके मूलाधार में उसकी समन्वय-शील प्रकृति है। सरमा के जीवन का उद्देश्य है—विश्व-मैत्री। दो विरोधी जातियों में शांति स्थापित कराने का श्रेय सरमा को ही है।

मनसा—जातीय सम्मान, प्रतिहिंसा तथा प्रतिशोध को जीवन का ध्येय माननेवाली मनसा नाग जाति की कन्या है। नाग जाति का सम्पूर्ण विद्रोह उसी के व्यक्तित्व के कारण है। अंत में प्रसादजी ने इसके चरित्र को आदर्श बनाया है।

संवाद-योजना

इस नाटक में सामान्य रूप से संवादों में दार्शनिकता तथा काव्यात्मकता का सन्निवेश किया गया है। श्रीकृष्ण तथा वेदव्यास के कथनो में दार्शनिकता अपने चरम रूप में मिलती है। यह दार्शनिकता कही-कहीं इतनी गहन हो गई है कि नाटकीयता को धक्का भी लगा है। श्रीकृष्ण का निम्न कथन इसी को स्पष्ट करता है:

'सखे! सृष्टि एक व्यापार है, कार्य है। उसका कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य है। फिर ऐसी निराशा क्यों? द्वन्द्व तो कल्पित है, भ्रम है।'[2] इसी प्रकार की गहन दार्शनिकता वेदव्यास के कथनों में है। वास्तव में डा० बच्चनसिंह ने यह सत्य ही कहा है कि 'प्रसाद के संवादों की कमजोरी उनकी गहन दार्शनिकता में निहित है। उनके पात्र जहाँ तत्व-चिंतन में उलझ जाते हैं वहाँ उनकी वक्तृता अत्यंत दुर्बोध और जटिल हो जाती है।'[3]

इन त्रुटियों के होते हुए भी इस नाटक की संवाद-योजना नितान्त असफल नहीं मानी जा सकती। संवादों के माध्यम से चरित्र पर अवश्य ही प्रकाश डाला गया है। सरमा का चरित्र मूलतः समन्वयवादी तथा शान्त स्वभाव वाला है। निम्न कथन

---

१. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : दूसरा अंक : पहला दृश्य : पृ० ४१
२. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : पहला अंक : पहला दृश्य : पृ० ११
३. डा० बच्चनसिंह : हिन्दी नाटक : पृ० ८५

से यह स्पष्ट हो जाता है :

'मैंने विश्व-मैत्री तथा साम्य को आदर्श बनाकर नाग-परिणय का यह अपमान सहन किया है।'[1]

स्वगत का प्रयोग अधिकांश में पाश्चात्य विधान के अनुरूप चरित्र पर प्रकाश डालने अथवा पात्र की मानसिक अवस्था को प्रकट करने के लिए किया गया है। जनमेजय का स्वगत 'मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास' उसकी विचारात्मक स्थिति को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार डॉ० पुरोहित के मतानुसार 'तक्षक के स्वगत शेक्सपियर के खलनायकों के स्वगत के समान वस्तु-विकास में सहयोग देते हैं एवं वक्ता की मानसिक अवस्था को भी प्रकट करते है।'[2] प्रसादजी ने स्वगत का प्रयोग कहीं-कहीं मात्र रूढ़ि के पालन करने के लिए भी किया है। दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में माणवक और दामिनी के वार्तालाप में माणवक का स्वगत तथा तीसरे अंक के तीसरे दृश्य में तक्षक का स्वगत-कथन 'क्यों न हो, आर्य-रक्त का कुछ तो प्रभाव होना ही चाहिए' इसी प्रकार के स्वगत-कथन है।

कामदी की संवाद-योजना के अनुरूप ही इस नाटक के संवादों में भी सूक्ष्म रूप से व्यंग्य छिपा हुआ मिलता है। वेद तथा दामिनी के संवादो में वेद का दामिनी को यह कथन अत्यन्त ही व्यंग्यमय है :

'किन्तु देवि ! मैं धैर्य को तुम्हारे पास छोड़ गया था। क्या उसने भी साथ नहीं दिया ?'[3]

समग्र रूप से देखने पर 'जनमेजय का नागयज्ञ' संवाद-योजना में अन्य प्रौढ़-कालीन नाटकों के समान सफल नही माना जा सकता।

भाषा-शैली : इस नाटक में भाषा का अत्यन्त प्रौढ़ तथा सधा हुआ रूप मिलता है। यद्यपि सामान्य रूप से भाषा परिमार्जित तथा अलंकृत है, तथापि पात्र-भेद तथा विषय-भेद से वह अवश्य ही परिवर्तित हुई है। श्रीकृष्ण की भाषा व्यक्तित्व की विराटता के अनुरूप अत्यन्त दार्शनिक हो गई है। प्रत्येक शब्द में भावगाम्भीर्य तथा विचारों की गहराई मिलती है :

'दुर्वृत्त प्राणियों का हटाया जाना ही अच्छे विचारों की रक्षा है। आत्मसत्ता के प्रतारक संकुचित भावों को भस्म करो।'[4]

किन्तु इसके विपरीत पुरोहित काश्यप की भाषा उसके चरित्र के अनुरूप ही हल्के स्तर की है :

'मैं कौरवों का कर्मकाण्ड कराते-कराते बुड्ढा हो गया, किन्तु तुम्हारे समान

---

१. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : पहला अंक : पहला दृश्य : पृ० १५
२. डॉ० शान्तिगोपाल पुरोहित : हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन : पृ० १८२
३. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : पहला अंक : दूसरा दृश्य : पृ० २०
४. वही : पृ० १४

लफंगा इस राज-सभा में आज तक न देखा।'[1]

इसकी शैली मूलतः शेक्सपियरीय कामदी के अनुरूप काव्यात्मक है। भावना तथा कल्पना के संचार के लिए इस नाटक में मणिमाला को प्रस्तुत किया गया है। यथार्थ जगत में रहते हुए भी स्वप्निल लोक में विचरण करने वाली मणिमाला का निम्न कथन दर्शनीय है :

'जब सन्ध्या को अपने श्याम अंग पर तपन-रश्मियों का पीला अंगराग लगाये देखती हूँ और फिर उस सुनहले शून्य में किसी कोकिला को गाते हुए उड़ जाते देखती हूँ......।'[2]

इस प्रकार की काव्यात्मक प्रवृत्ति को ध्यान में रखकर ही आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने यह कहा है कि 'प्रसादजी के नाटकों की काव्यात्मकता भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शैली और वस्तु दोनों में प्रसादजी के नाटकों में काव्यत्व दृष्टि-गोचर होता है।'[3]

गीत-विधान : इस नाटक में दो नेपथ्य गान हैं। दूसरे अंक के पहले दृश्य में 'जीने का अधिकार तुझे क्या' गीतिकाव्य की दृष्टि से अधिक आकर्षक नहीं है। इसी प्रकार दूसरा नेपथ्य गीत 'जय हो उसकी, जिसने विश्व-रूप विस्तार किया' भरत-वाक्य सदृश विश्वात्मा की स्तुतिपरक है। इसके अतिरिक्त एक गीत दामिनी द्वारा गाया गया है 'अनिल भी रहा लगाये घात' यह संक्षिप्त गीत है तथा दामिनी की कामुक अवस्था को स्पष्ट करता है। दूसरे अंक के तीसरे दृश्य में नर्तकियों द्वारा 'मधुर माधव की रजनी' गीत गाया गया है। दूसरे अंक के पाँचवें दृश्य में तथा तीसरे अंक के दूसरे दृश्य में सरमा के दो गीत हैं। इन गीतों में पात्र की मानसिक अवस्था के साथ-साथ आदर्श की अभिव्यक्ति की गई है।

इस नाटक में जातीय गौरव के जागने के लिए एक गीत मनसा द्वारा तथा दूसरा गीत आर्य सैनिकों द्वारा गाया गया है। इन गीतों में वह आकर्षण नहीं, जो 'स्कन्दगुप्त' तथा 'चन्द्रगुप्त' के गीतों में मिलता है। इसी कारण डॉ० दशरथ ओझा का यह अभिमत उचित ही है कि 'गीतिकाव्य की दृष्टि से इस नाटक का कोई भी गीत उच्चकोटि का नहीं।'[4]

रस

रस का उद्रेक तथा समष्टि प्रभाव घटनाओं तथा चरित्रों के सुस्पष्ट रूप से एक दिशा में अग्रसर होने से होता है। इस नाटक में घटनाओं के विशृंखल होने तथा कार्य के सुस्पष्ट न होने के कारण समष्टि प्रभाव तथा रस की स्थिति भी अनिश्चित

---

१. जयशंकर प्रसाद : जनमेजय का नागयज्ञ : पहला अंक : तीसरा दृश्य : पृ० २३
२. वही : दूसरा अंक : पहल दृश्य : पृ० ४२
३. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २३७
४. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० २७५

ही रही है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का इस सम्बन्ध में कथन है कि 'अन्य नाटकों में घटनाक्रम का आरोह जैसे अंत में एक समष्टि-प्रभाव उत्पन्न करके रसोद्रेक में योग देता है वैसा इस रचना में नही दिखाई पड़ता है।'[1]

इसमें प्रधान रूप से वीर रस तथा गौण रूप से शृंगार रस का चित्रण मिलता है। वीर रस के अन्तर्गत आश्रय जनमेजय है और आलम्बन तक्षक। उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत तक्षक के प्रतिहिंसात्मक कार्य हैं। संचारी के अन्तर्गत जनमेजय के पिता परीक्षित की हत्या का स्मरण है तथा अनुभाव के अन्तर्गत जनमेजय का क्रुद्ध होकर नागों को जिन्दा जलवाना है। शृंगार का प्रच्छन्न रूप हमें जनमेजय तथा मणिमाला में मिलता है।

नाट्य-रूप

इसका प्रारम्भ भारतीय-विधान के अनुरूप न होकर पाश्चात्य-विधान के आधार पर किया गया। यह रचना अपने समग्र प्रभाव तथा अन्त दोनों ही दृष्टियों से सुखात्मक है अतः इसे कामदी माना जा सकता है। इसमें शेक्सपियरीय नाटकों के समान ही अतिप्राकृत तत्त्व को सन्निविष्ट किया गया है। मनसा का मन्त्र-बल के आधार पर खाण्डव-दाह का दृश्य उत्पन्न करना शैली में चमत्कार उत्पन्न करता है। कथानक के निर्माण में भारतीय कार्यावस्थाओं के स्थान पर पाश्चात्य नाटक के मूलाधार संघर्ष को स्थान दिया गया है। चरित्रांकन में भी प्रसादजी ने कामदी के अनुरूप मानव-मन की जड़ों में गहरे पैठकर उसकी सीमाओं तथा दुर्बलताओं को प्रस्तुत किया है। जनमेजय के चरित्र की अपनी सीमाएं हैं जिनके कारण वह पाठक की कहीं-कही सहानुभूति खो देता है। इसी प्रकार दामिनी के चरित्र की भी सीमाएँ प्रस्तुत की गई हैं।

समग्र परिवेश की दृष्टि से यह भारतीय-विधान को अपनाते हुए भी पाश्चात्य-विधान के अधिक निकट जान पड़ती है। पहले अंक में खाण्डव-दाह का दृश्य, तक्षक द्वारा छुरी निकालकर उत्तंक को मारने का प्रयत्न, दूसरे अंक के सातवें दृश्य में तक्षशिला के युद्ध में आर्य सैनिकों का नागों को जलाना, जनमेजय के अश्व को रोकने पर नागों तथा आर्य सैनिकों में युद्ध वास्तव में पाश्चात्य-विधान के अनुरूप है। किन्तु उसके साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इसका अन्त भारतीय-विधान के अनुरूप भरत-वाक्य के समान एक नेपथ्य-गीत से हुआ है। श्री जयनाथ नलिन के शब्दों में 'नेपथ्य में जो गीत है, वह भी भरत-वाक्य के ढंग पर है।'[2]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह नाटक प्रौढ़ काल की रचना होने पर भी शिल्प की दृष्टि से भारतीय तथा पाश्चात्य नाट्य-विधान को पूर्ण

---

१. डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २२६
२. जयनाथ नलिन : हिन्दी नाटककार : पृ० ८१

रूप से समाहित नहीं कर सका है। प्रसादजी इस नाट्य-कृति में पूर्णतः सफल नहीं रहे हैं।

चन्द्रगुप्त

प्रसादजी के प्रौढ़ नाटकों में 'चन्द्रगुप्त' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में इस नाटक में प्रसादजी ने इतिहास को केवल प्रस्तुत ही नहीं किया है वरन् उसका अन्वेषण भी किया है। अपने अन्वेषण के बल पर ही प्रसादजी ने इस नाटक में इतिहास को मूलाधार स्वीकार करते हुए भी नाटक को इतिहास-ग्रन्थ नहीं बनने दिया है। इस नाटक में वास्तव में प्रसादजी अपने उद्देश्य में सफल रहे हैं। डॉ० ओझा के शब्दों में 'प्रसाद जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक-निर्माण में तल्लीन हुए थे, उसका चरम उत्कर्ष 'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रकट होता है। इसमें उनकी ऐतिहासिक शोध-शक्ति जितनी प्रस्फुटित हुई है, उतनी ही उनकी काव्य-प्रतिभा भी प्रखर हो उठी है।'[1] कला की दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी यह विशाल घटना-समूह को समाहित करने के कारण कहीं-कहीं दोषयुक्त भी हो गया है।

वस्तुतत्त्व

इस नाटक का सम्बन्ध गुप्त काल के उज्ज्वल नक्षत्र चन्द्रगुप्त से है। नन्द वंश का उन्मूलन, सिकन्दर के आक्रमण तथा चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण इन विशाल घटनाओं के आधार पर चार अंकों में इस नाटक की रचना की गई है। तक्षशिला में गुरुकुल की शिक्षा समाप्त कर चाणक्य तथा उसके दो शिष्य चन्द्रगुप्त तथा सिंहरण गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए निकलते हैं। तीनों के वार्तालाप से स्पष्ट होता है कि पश्चिमोत्तर सीमा की राजनीतिक अवस्था चिन्ताजनक है। इसी वार्तालाप के मध्य आम्भीक तथा अलका आ जाते हैं। आम्भीक किसी राजनीतिक कुचक्र से सशंकित होकर पहले तो वाक्युद्ध करता है फिर अस्त्रों की सहायता लेने पर उतर आता है। अलका किसी प्रकार वाद-विवाद को शान्त कराती है। चाणक्य मगध की राजनीति को देखने के लिए चन्द्रगुप्त को लेकर मगध आ जाता है। अलका के अनुरोध से सिंहरण भी तक्षशिला का परित्याग कर देता है। मगध में आकर नन्द की सभा में चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त दोनों ही नन्द के विरुद्ध स्पष्ट रूप से भाषण देने के कारण अपमानित होकर राजसभा से निर्वासित किए जाते हैं। राजसभा से निर्वासित होकर चाणक्य नन्द वंश के उन्मूलन की प्रतिज्ञा कर पर्वतेश्वर के पास सहायता के लिए जाता है, परन्तु वहाँ भी उसको तिरस्कार ही मिलता है। उधर गाधार में अलका भी राष्ट्र-सेविका के रूप में अपने भाई आम्भीक का विरोध करना शुरू कर देती है। यह विरोध इस सीमा तक विकसित होता है कि वह राज्य छोड़कर राष्ट्र-सेविका बन जाती है। इस अंक में वन में चलते-चलते थक जाने के कारण चन्द्रगुप्त अचेत हो जाता

1. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २४७

है। यवन सिल्यूकस, उसकी व्याघ्र से रक्षा करता है। अंक के अन्त में चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिकन्दर, सिल्यूकस कार्नेलिया इत्यादि का महात्मा दाण्ड्यायन के आश्रम पर मिलन होता है। सिकन्दर, भारत-विजय की कामना के फलीभूत होने के लिए महात्मा दाण्ड्यायन से आशीर्वाद माँगता है, परन्तु दाण्ड्यायन ऐसा आशीर्वाद न देकर चन्द्रगुप्त के भावी सम्राट् होने की भविष्यवाणी करते है।

द्वितीय अंक में उद्‌भाण्ड मे सिन्धु के किनारे यवन-शिविर में बैठी कार्नेलिया को चन्द्रगुप्त फिलिप्स के वासनाजन्य आक्रमण से बचाता है। कार्नेलिया तथा सिल्यूकस दोनों ही उसके प्रति सहानुभूति दिखाते है। इसके पश्चात् यवन-शिविर में आम्भीक और फिलिप्स तथा चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस सिकंदर के समक्ष प्रस्तुत होते है। फिलिप्स और सिल्यूकस एक-दूसरे पर आरोप लगाते है। सिकंदर विवाद को शान्त कर चन्द्रगुप्त को अपनी सेना देकर मगध को प्राप्त करने का परामर्श देता है। चन्द्रगुप्त सिकंदर के इस परामर्श की कुछ शब्दों मे निन्दा करता है। सिकंदर चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाने की आज्ञा देता है। परन्तु चन्द्रगुप्त वीरतापूर्वक निकल जाता है। आम्भीक के देशद्रोह के कारण सिकंदर गान्धार को पार कर पंचनद प्रदेश में पर्वतेश्वर से युद्ध करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। पर्वतेश्वर की सहायता के लिए मगध की सेना भी कल्याणी के नेतृत्व में वहाँ आ जाती है। चाणक्य की प्रेरणा से सिंहरण तथा चन्द्रगुप्त भी वहाँ पहुँच जाते हैं। युद्ध होता है। पर्वतेश्वर की पराजय होती है। सिकंदर तथा पर्वतेश्वर की संधि हो जाती है। आम्भीक अलका तथा सिंहरण को बन्दी बनाता है। चन्द्रगुप्त तथा कल्याणी चले जाते है। मालव में सिंहरण के उत्थान मे चन्द्रगुप्त तथा मालविका के वार्तालाप मे चाणक्य आकर चन्द्रगुप्त की भर्त्सना करते है। चाणक्य के प्रयत्न से चन्द्रगुप्त को क्षुद्रकों तथा मालवों की सेनाओं का सम्मिलित सेनापति बनाया जाता है। सिकंदर का आक्रमण होता है और दुर्ग में अलका सिकन्दर पर वार करती है। दुर्ग में सिकन्दर सिंहरण के हाथों घायल होता है। सिंहरण सिकन्दर को प्राण दान देकर उस द्वारा पर्वतेश्वर पर किए गए उपकार का प्रतिकार करता है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त सिल्यूकस को कृतज्ञता के प्रतिकार में मार्ग देकर प्राण दान करता है।

तीसरे अंक मे चाणक्य द्वारा मगध के उन्मूलन की कथा है। राक्षस को छलने के लिए चाणक्य का चर यह असत्य समाचार राक्षस के चर को देता है कि नन्द ने सुवासिनी को बन्दी बना लिया है और राक्षस को बन्दी बनाने वाले के लिए पुरस्कार की घोषणा की गई है। इतने मे कुछ सैनिक आकर राक्षस को बन्दी बनाना चाहते हैं, परन्तु चाणक्य के सैनिक राक्षस को बचा लेते है। चाणक्य चतुराई से राक्षस से उसकी मुद्रिका ले लेता है। इसी अंक में पर्वतेश्वर को आत्महत्या से विरत कर चाणक्य उसे अपनी ओर मिला लेता है। सिकन्दर को भी सम्मानपूर्वक विदाई दी जाती है। अलका तथा सिंहरण के परिणय की सूचना दी जाती है। मगध में जन-

क्रान्ति के उद्देश्य से चाणक्य शकटार, मौर्य सेनापति तथा चन्द्रगुप्त की माता को साथ लेकर चाणक्य मगध में आता है। मुद्रिका की सहायता से नन्द को मूर्ख बनाकर राक्षस तथा सुवासिनी को विद्रोही प्रमाणित किया जाता है। जनता नन्द के अन्याय का विरोध करती है। शकटार क्रोध में आकर नन्द की हत्या कर देता है।

चतुर्थ अंक में चन्द्रगुप्त के निष्कंटक राज्यारोहण की कथा है। अपने सतीत्व की रक्षा करने के पहले तो कल्याणी पर्वतेश्वर का बध करती है और फिर आत्महत्या। इधर नगर मे चन्द्रगुप्त के विजयोत्सव के न मनाने पर चन्द्रगुप्त के माता-पिता रुष्ट होकर वन मे चले जाते हैं। सिंहरण भी चाणक्य की खोज मे चला जाता है। सिल्यूकस राक्षस को अपने साथ मिलाकर चन्द्रगुप्त पर आक्रमण की योजना बनाता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त से पृथक् होकर भी समस्त राजनीति का संचालन करता है। चन्द्रगुप्त के स्थान पर उसकी शैया पर मालविका को सुलाया जाता है। आक्रमणकारी चन्द्रगुप्त समझकर उसकी हत्या कर देते है। सिल्यूकस तथा चन्द्रगुप्त के युद्ध में आम्भीक सिल्यूकस से लड़ता हुआ मारा जाता है। चन्द्रगुप्त की विजय होती है। सिल्यूकस तथा चन्द्रगुप्त की संधि होती है और चाणक्य की प्रेरणा से चन्द्रगुप्त का परिणय कार्नेलिया से होता है।

चन्द्रगुप्त का आधार इतिहास है। घटनाएँ, पात्र तथा समग्र परिवेश ही ऐतिहासिक ही है। अतः कथानक का चयन भारतीय-विधान के अनुरूप 'ख्यातवृत्त' से किया गया है। कथानक के ढाँचे को अधिक से अधिक ऐतिहासिक रखते हुए भी प्रसादजी ने कल्पना का भी थोड़ा-बहुत आश्रय लिया है। काल्पनिक घटनाओं में चन्द्रगुप्त-कल्याणी, चन्द्रगुप्त-कार्नेलिया, चन्द्रगुप्त-मालविका, चाणक्य-सुवासिनी, राक्षस-सुवासिनी, पर्वतेश्वर-कल्याणी से सम्बन्धित प्रसंग हैं।[१]

जहाँ तक कथानक के विस्तार का प्रश्न है, अधिकांश विद्वानों ने इसके कथानक को घटनाओं से बोझिल बताया है। डॉ० बच्चनसिंह का कथन है कि 'अपने कथानक के विस्तार-भार से बोझिल चन्द्रगुप्त सुसंबद्ध नहीं हो पाया है।'[२] किन्तु इसके विपरीत डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का अभिमत है कि 'वस्तु-विन्यास के इसी सौष्ठव के कारण नाटकीय समष्टि-प्रभाव का जितना सुन्दर और सुसंगत आभोग इस नाटक में हो सका है उतना लेखक की अन्य किसी रचना में नही।'[३]

भारतीय दृष्टिकोण से विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि चन्द्रगुप्त की कथा आधिकारिक कथा है। इस आधिकारिक कथा के साथ सिंहरण तथा अलका

---

१. डॉ० प्रेमदत्त शर्मा : प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ० १०७
२. डॉ० बच्चनसिंह : हिन्दी नाटक : पृ० ५९
३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १३८

की कथा, पर्वतेश्वर की कथा, राक्षस तथा सुवासिनी की कथा, आम्भीक की कथा प्रासंगिक कथाएँ हैं। इन सब प्रासंगिक कथाओं से आधिकारिक कथा का विकास नहीं होता। केवल सिंहरण तथा अलका की कथा से ही चन्द्रगुप्त की आधिकारिक कथा कहीं-कहीं आगे बढ़ती है, अन्यथा सिंहरण तथा अलका की कथा भी कहीं कहीं आधिकारिक कथा पर हावी होती प्रतीत होती है। इन प्रासंगिक कथाओं से आधिकारिक कथा को अधिक लाभ नहीं पहुँचा है। डॉ० रामेश्वरलाल खण्डेलवाल के शब्दों में "प्रासंगिक कथाएँ संख्या में इतनी अधिक व विस्तार मे विषम अनुपात में हैं कि मूल कथा का प्रवाह अवरुद्ध होता जाता है।"[1] वास्तव में प्रसादजी यहाँ पाश्चात्य-विधान से प्रभावित हैं। कामदी के कथानक की विशेषता है विशृंखलता। अतः पाश्चात्य-विधान से प्रभावित होने के कारण ही प्रसादजी ने आधिकारिक कथा के साथ-साथ अनेक प्रासंगिक कथाओं का समावेश किया है। सिंहरण तथा अलका की प्रासगिक कथा आधिकारिक कथा के समानान्तर ही आद्यन्त नाटक में चलती है।

कथानक का विकास भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से अध्ययन का विषय है। भारतीय दृष्टि से विचार करने पर इस नाटक का फल है—नन्द-वंश का उन्मूलन और चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण। इन्हीं दो उद्देश्यों की प्राप्ति नायक द्वारा की गई है। इसमें आरम्भ कार्यावस्था चन्द्रगुप्त के इस कथन से मानी जा सकती है:

"यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है, कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।"[2]

डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा का कथन है कि यह 'आरम्भ' अवस्था चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के नंद दरबार से अपमानित होने तथा पर्वतेश्वर का चन्द्रगुप्त को वृषल कहने तक व्याप्त है।'[3] चन्द्रगुप्त का क्षुद्रकों तथा मालवों की सम्मिलित सेना का सेनापति होने पर 'प्रयत्न' अवस्था है। सिकन्दर से युद्ध होने के उपरान्त सिकन्दर का मैत्रीपूर्वक हाथ बढ़ा कर भारत छोड़ना 'प्राप्त्याशा' अवस्था है तथा मगध में जन-विद्रोह के उपरान्त नन्द की हत्या से 'नियताप्ति' अवस्था स्थापित हो जाती है। अन्त में राज्य की प्राप्ति के साथ ही विदेशी आक्रमणकारियों का भी आर्यावर्त के भूभाग से जाना फलागम अवस्था का परिचायक है।

इसमें जिस प्रकार कार्य की अवस्थाओं का निर्वाह किया गया है, उसी प्रकार अर्थ प्रकृतियों का भी विनियोग होता है। 'बीज' का प्रारम्भ सिंहरण के निम्न कथन से माना जा सकता है:

"आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुछ और प्रतारणा की लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्ड-राज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट

१. डॉ० नगेन्द्र : भारतीय नाट्य-साहित्य : पृ० ३०९

२. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० ६०

३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १४८

होगा।"[1]

बिन्दु अर्थ प्रकृति का विस्तार सम्पूर्ण द्वितीय तथा तृतीय अंक में है। डॉ० शर्मा के मतानुसार "इसी अर्थ प्रकृति का विस्तार नाटक के अधिक अंश में दिखाई पड़ता है।"[2] पताका अर्थ प्रकृति के अन्तर्गत सिंहरण तथा अलका का प्रसंग है तथा प्रकरी में अन्तर्गत पर्वतेश्वर का प्रसंग स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इसके अतिरिक्त 'फिलिप्स और कार्नेलिया, चन्द्रगुप्त और मालविका, कल्याणी और पर्वतेश्वर, सिकन्दर और उसका युद्ध इत्यादि सब प्रसंग प्रकरी अर्थ प्रकृति रूप में बिखरे दिखाई पड़ते हैं।"[3] अर्थ प्रकृतियों के समान ही इस नाटक में सन्धियाँ भी मिलती हैं।

वास्तव में वस्तु का विन्यास भारतीय-विधान के साथ ही साथ पाश्चात्य विधान के भी बहुत निकट है। डॉ० विश्वनाथ मिश्र के मतानुसार "इसमें हमें बाह्य संघर्ष के चित्रण की प्रधानता मिलती है।"[4] जिस प्रकार शेक्सपियर के नाटकों में जीवन का संघर्षमय व्यापक स्वरूप मिलता है, उसी प्रकार यहाँ भी कथानक के प्रारम्भ में ही संघर्ष तथा विरोध मिलता है। यह विरोध आम्भीक तथा सिंहरण के वाक्‌युद्ध से प्रारम्भ होता है। नन्द का अनीतिमूलक, अन्यायपूर्ण शासन इस विरोध को विकसित करता है। नन्द द्वारा चाणक्य को चन्द्रगुप्त सहित अपमानपूर्ण ढंग से राज्य-सभा से निर्वासित करना इसका उदाहरण है। नाटक में केवल विशुद्ध राजनीतिक संघर्ष ही नहीं धार्मिक संघर्ष भी है। पर्वतेश्वर का अपने को क्षत्रिय कहना, चन्द्रगुप्त को वृषल कहना, नन्द की कन्या से धर्म के कारण विवाह न करना भी विरोध को ही जन्म देता है। इसी प्रकार कथानक में शेक्सपियरीय कामदी के समान ही षड्यन्त्रों की आयोजना की गई है। चाणक्य षड्यन्त्रपूर्वक राक्षस की मुद्रिका ग्रहण कर नन्द के विरुद्ध मगध की जनता को विरोधी बना देता है। इन आन्तरिक संघर्षों के अतिरिक्त नाटक में सर्वत्र ही संघर्ष ही संघर्ष है। पहले सिकन्दर के साथ और फिर सिल्यूकस के साथ युद्ध नाटक में संघर्षों तथा विरोधों को नया आयाम देता है।

भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप प्रसादजी ने कुछ घटनाओं की सूचना मात्र दी है। इन घटनाओं में भूत, वर्तमान तथा भावी तीनों प्रकार की घटनाएँ सम्मिलित हैं—चाणक्य का राजा नन्द द्वारा निर्वासन, शकटार का बन्दी होना, नन्द का बौद्ध-धर्मानुयायी होना, पर्वतेश्वर की पराजय की पूर्व सूचना, यवन-सैनिकों द्वारा युद्ध न करने का निर्णय, सिकन्दर की सेना का रावी को पार करना, सुवासिनी का बन्दी

---

१. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० ५६
२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १५०
३. वही : पृ० १५१
४. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २५२

होना, राक्षस के विवाह के अवसर मगध में विद्रोह की भावी सूचना, फिलिप्स का चन्द्रगुप्त के साथ द्वन्द्व-युद्ध में मारा जाना, सिकन्दर की मृत्यु की सूचना इत्यादि।

यद्यपि इसका कार्य-व्यापार शिथिल है, तथापि अनेक स्थलों पर नाटकीयता मिलती है। आम्भीक तथा सिंहरण के वाक्‌युद्ध के अवसर पर आम्भीक के तलवार निकालने पर सहसा चन्द्रगुप्त का आगमन। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए सित्यूकस का व्याघ्र को तीर मार कर गिराना। बन्दीगृह में चाणक्य की मुक्ति के लिए चन्द्रगुप्त का पहुँचना। इसी प्रकार की अन्य अनेक नाटकीय घटनाएँ हैं, जिनसे कथानक मे चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

चरित्र—इस नाटक में प्रसादजी ने पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी विधान के अनुरूप पात्रों के चरित्रांकन पर अधिक बल दिया है। घटनाओं की बहुलता के कारण कुछ पुरुष तथा स्त्री पात्र परस्पर समानान्तर रेखाओं पर उभरकर सामने आते हैं। इसी कारण शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर नायक तथा नायिका का प्रश्न कुछ जटिल प्रतीत होता है। पुरुष पात्रों में चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य दोनों ही नायक पद के अधिकारी प्रतीत होते है। चाणक्य भी इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति है तथा नाटक में समस्त घटनाओं से वह आद्यन्त सम्बद्ध है। इस दिशा में चाणक्य के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व तथा कृतित्व को स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ता है कि चाणक्य स्वयं किसी भी फल की इच्छा नहीं रखता। सभी घटनाओं से सम्बद्ध होता हुआ भी वह वैयक्तिक स्तर पर किसी से सम्बद्ध नहीं है। वास्तव में "चन्द्रगुप्त में प्रसाद की सबसे बड़ी देन है चाणक्य। 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य न 'कल्याणी-परिणय' का चाणक्य है न 'मुद्राराक्षस' का।"[1]

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त का चरित्र एक आदर्श क्षत्रिय नायक का चित्र है, जिसमें गुरु-भक्ति, वीरता, आत्म-सम्मान, निर्भीकता, स्पष्टवादिता, उदारता, सहृदयता आदि ऐसे गुण हैं जिनके कारण वह धीरोदात्त नायक के रूप में चित्रित किया गया है। चन्द्रगुप्त के चरित्र की मूलाधार विशेषता है आत्मसम्मान। चन्द्रगुप्त का चाणक्य के प्रति निम्न कथन उसके चरित्र पर प्रकाश डालता है:

"आत्मसम्मान के लिए मर-मिटना ही दिव्य जीवन है।"[2]

चन्द्रगुप्त की स्पष्टवादिता तथा निर्भीकता नन्द की राज्य-सभा में प्रकट हुई है। गुरु-भक्ति का तत्त्व चन्द्रगुप्त के चरित्र में इसी सीमा तक है कि कहीं भी वह स्वतन्त्र रूप से कोई निर्णय नहीं ले पाता। नन्द के बन्दीगृह से वीरतापूर्वक चाणक्य को मुक्त कराने में चन्द्रगुप्त की गुरु-भक्ति ही कार्य कर रही है। चन्द्रगुप्त के चरित्र में

---

१. डॉ॰ दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० २४७-४८

२. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० ६०

स्वाभिमान की भावना भी मिलती है। यद्यपि वह नन्द के उन्मूलन के लिए सचेष्ट है, तथापि इस कार्य की सिद्धि के लिए वह साधनों के प्रति भी विवेकशील है। सिकन्दर की सहायता के उत्तर में वह कहता है :

"मैं यवनों को अपना शासक बनने को आमंत्रित करने नहीं आया हूँ।"[1]

नाटक में चन्द्रगुप्त आद्यन्त चाणक्य द्वारा प्रचालित प्रतीत होते हुए भी वैयक्तिक कर्मसंचालन की क्षमता भी रखता है। अपने माता-पिता के रुष्ट हो जाने पर वह चाणक्य से विवाद करता है जिसके फलस्वरूप चाणक्य तथा सिंहरण दोनो ही उसे छोड़कर चले जाते हैं, किन्तु इस पर भी वह निराश न होकर कर्मक्षेत्र में 'मरण से भी भयानक को आलिंगन' करने को प्रस्तुत रहता है।

चन्द्रगुप्त का चरित्र पाश्चात्य विधान के अनुरूप शेक्सपियरीय नायकों जैसा भी है। जैसा कि डॉ० नगेन्द्र ने लिखा भी है कि "स्पष्टत: ये नाटक चरित्र के द्वन्द्व को लेकर चलते हैं। और इनकी सबसे बडी सफलता चरित्र-निर्माण में ही है।"[2] स्कन्दगुप्त की भाँति चन्द्रगुप्त के व्यक्तित्व में दोहरापन नही है। उसके जीवन में उसका सामाजिक पक्ष ही अधिक उभरता है। किन्तु कहीं-कहीं वैयक्तिक जीवन की मधुर अनुभूतियाँ भी मिलती है। चन्द्रगुप्त के जीवन में एक साथ तीन प्रणय-बिन्दु आकर मिलते हैं। प्रथम सम्मान कल्याणी की ओर है। चन्द्रगुप्त का तक्षशिला से लौटने पर यह कथन :

"जिन्हे किशोर छोड़कर गया था, अब वे तरुण दिखाई पड़ते हैं।" चन्द्रगुप्त के पूर्व प्रेमभाव को ही व्यक्त करता है।

डॉ० श्रीपति शर्मा के मतानुसार "मैकबेथ या हेमलेट की भाँति चन्द्रगुप्त भी दुर्बल है।"[3] चन्द्रगुप्त में भी अन्तर्संघर्षो की प्रधानता है। निरन्तर युद्ध में लगे रहने के कारण हृदय में प्रेम के प्रति अकुलाहट है, कसमसाहट है, वह निम्न कथन में दृष्टव्य है :

"संघर्ष ! युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़ कर देखो मालाविका ! आशा और निराशा का युद्ध, भावों का अभाव से द्वन्द्व···।"[4]

कामदी नायक के समान चन्द्रगुप्त के जीवन में अनेक कष्ट तथा कठिनाइयाँ आती हैं। जीवन-भर वह आक्रमणकारियों से युद्ध करता रहता है। किन्तु चन्द्रगुप्त के जीवन में स्कन्दगुप्त के समान अतृप्ति और निराशा की भावना नहीं मिलती। सभी विपत्तियों के पश्चात् वह फल को प्राप्त कर सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन में सन्तोष लाभ करता है।

---

१. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त : द्वितीय अंक : पहला दृश्य : पृ० ११७
२. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : प० १०७
३. डॉ० श्रीपति शर्मा : हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव : १३९
४. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त : चतुर्थ अंक : चतुर्थ दृश्य : पृ० २१८

सिंहरण

नाटक में नायक चन्द्रगुप्त के ही समान आर्यावर्त की स्वतन्त्रता की रक्षा करने में सम्बद्ध मालव गण सिंहरण है। सिंहरण को पताका नायक माना जा सकता है। सिंहरण के व्यक्तित्व में राजनीतिक संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है। तक्षशिला से अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त वहाँ की राजनीति का अध्ययन करना ही उसका प्रथम ध्येय है। सिंहरण के चरित्र में भी नायक के समान आदर्श गुण हैं। विनम्रता, निर्भीकता, गुरु-भक्ति में वह अनन्य है। आम्भीक के साथ वार्तालाप में ये सभी गुण प्रकट होते हैं। सामाजिक क्षेत्र से परे अपने व्यक्तिगत जीवन में सिंहरण के प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। सिंहरण की निर्भीक वीरता को देखकर अलका उस पर आसक्त हो जाती है। अलका और सिंहरण का प्रणय कभी भी उनके सामाजिक दायित्वों के पालन में बाधा नहीं बनता।

कार्नेलिया

नायक के समान ही इस नाटक में नायिका की समस्या भी बनी हुई है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मतानुसार "नायिका को नाटक में जो प्रमुखता मिलनी चाहिए वह उसे नहीं मिल पाई।"[1] नायिका पद के लिए कार्नेलिया के अतिरिक्त कल्याणी भी अपना स्थान रखती है। नाटक में बहुत दूर तक कल्याणी नायिका के रूप में सामने आती है। कार्नेलिया नाटक के आरम्भ तथा अंत दो स्थलों पर आती है। इन दोनों स्थलों पर कार्नेलिया का व्यक्तित्व राष्ट्रीय संघर्ष से भिन्न एक कोमल प्रणयी के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। प्रथम दर्शन में ही वह भारतीय संस्कृति से प्रभावित दिखाई देती है। कार्नेलिया चन्द्रगुप्त की 'विनयशील वीरता' पर मुग्ध हो जाती है। वास्तव में कार्नेलिया का प्रेम मौन प्रेम है, जिसमें अनुमति की गहराई तो है, परन्तु अभिव्यक्ति का कोलाहल नहीं।

अलका

सभी स्त्री पात्रों में अलका का चरित्र सर्वाधिक आकर्षक तथा सजीव है। अलका के चरित्र के दो रूप हैं—सामाजिक जीवन में राष्ट्रीय तथा राजनीतिक संघर्षों में लिप्त वीर क्षत्रिय बाला तथा व्यक्तिगत जीवन में आदर्श प्रेमिका। इन दोनों पक्षों में कोई विरोध नहीं। सामाजिक जीवन का मिलन व्यक्तिगत जीवन में प्रणय का सूत्रपात करता है। सिंहरण के वीर रूप तथा राष्ट्रोद्धार के लक्ष्य को जानकर वह मानों पथ के साथी को पा जाती है:

"भाई! इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छन्द हृदय में कितना बलवान् वेग है। यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है। जाने दो।"[2]

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २४७

२. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० ५८

अलका के चरित्र में वैयक्तिक स्वार्थ की अपेक्षा राष्ट्रीय हित का अधिक अंश है। राष्ट्र-रक्षा के लिए वह राज्य-वैभव छोड़कर लोकहित मे लग जाती है। वास्तव में "सेवा भाव से भूषित विरोचित देश-भक्ति ही उसके चरित्र की प्रधान विशेषता बनी रहती है।"[१]

संवाद-योजना—प्रसादजी के अन्य प्रौढ़कालीन नाटकों से पृथक् चन्द्रगुप्त में कथन प्रायः छोटे-छोटे हैं। इससे दो लाभ हुए हैं : एक तो कथानक को गति मिली है और दूसरे वक्ता के चरित्र पर प्रकाश पड़ा है। वास्तव में इन संवादों में एक त्वरता, भास्वरता है। कामदी की संवाद-योजना के अनुरूप ही इन संवादों मे शुष्क बौद्धिकता ही नही व्यंग्य, विनोद तथा वाक्-वैदग्ध्य भी मिलता है। सिंहरण तथा आम्भीक के वार्तालाप में वह देखा जा सकता है :

"आम्भीक - इसमें कुछ रहस्य है।"

सिंहरण—"हाँ-हाँ, रहस्य है।···क्यों राजकुमार ! संभवतः तक्षशिलाधीश वाल्हीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गये थे ?"[२]

कहीं-कहीं दार्शनिकता तथा कवित्व भी मिलता है। दाण्ड्यायन के कथन इसी प्रकार के है। स्वगत-कथनों का प्रयोग पात्र की अन्तर्दशाओं के चित्रण के लिए ही सामान्य रूप से किया गया है। प्रथम अंक के आठवें दृश्य मे गान्धार नरेश का कथन :

'बूढ़ा हो चला, परन्तु मन बूढ़ा न हुआ। बहुत दिनों तक तृष्णा को तृप्त करता रहा, पर तृप्ति नही होती।'[३]

परन्तु कहीं-कहीं स्वागत का प्रयोग मात्र रूढ़ि के पालन के लिए किया गया है। इन स्वगत-कथनों में दूसरे अंक के दूसरे दृश्य में सेनापति का कथन, दूसरे अंक के सातवें दृश्य में अलका का कथन, तीसरे अंक के छठे दृश्य मे मालविका का कथन तथा तीसरे अंक के अन्तिम दृश्य में नन्द का स्वगत इत्यादि आते हैं।

सामान्य रूप से संवाद संक्षिप्त होते हुए भी एक-दो स्थलों पर दीर्घकाय हो गए हैं—मालवों के स्कन्धावार की युद्ध-परिषद् में चाणक्य का कथन तथा भूगर्भ से निकलकर शकटार का कथन इत्यादि।

भाषा-शैली—शैली की काव्यात्मकता इस नाटक में भी मिलती है। भाषा भावों के अनुरूप ही अपना स्वरूप धारण करती चली है। कवित्व तथा दर्शन प्रायः सभी प्रमुख पात्रों में मिलता है। डॉ० नगेन्द्र का यह कथन सत्य ही है कि "प्रसाद के दर्शन-कवित्वमय व्यक्तित्व का थोड़ा-बहुत अंश उनके सभी पात्रो ने प्राप्त किया है।"[४] दाण्ड्यायन की भाषा में दार्शनिकता के कारण एक विशेष गरिमा है।

---

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १६२
२. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० ५८
३. वही : प्रथम अंक : आठवाँ दृश्य : पृ० ६३
४. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० १०८

"भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभासमात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते।"[1]

इसी प्रकार अलका, सिंहरण तथा सुवासिनी के कथनों में किन्हीं स्थलों पर काव्यात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है। काव्यात्मक भाषा का सुन्दर रूप निम्न उद्धरण में मिलता है:

"अकस्मात् जीवन-कानन में, एक राका-रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसंत घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं।'[2]

गीत-विधान

'चन्द्रगुप्त' में कुल तेरह गीत हैं। इन गीतों में एक नेपथ्य गीत 'कैसी कड़ी रूप की ज्वाला' है तथा दूसरा अलका का राष्ट्रीय गीत 'हिमाद्रि तुंग-शृंग से' है। शेष गीतों में एक गीत राक्षस का है 'निकल मत बाहर दुर्बल आह'। स्त्री पात्रों में अलका, कल्याणी, मालविका तथा सुवासिनी के वैयक्तिक गीत है, जिनमें पात्रों की मानसिक अवस्था का परिचय दिया गया है। इसके कुछ गीत तो अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, यथा—'तुम कनक किरण के अन्तराल में', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' तथा 'हिमद्रि तुंग शृंग से' इत्यादि।

रस

इस नाटक मे वीर रस अंगी तथा शृंगार रस अंग रूप में निष्पन्न हुआ है। चन्द्रगुप्त इसका आश्रय है तथा सिकन्दर तथा सिल्यूकस आलम्बन। रस के अन्य अवयवों में सिकंदर का यह कथन कि मालवराज आकर यात्रा का प्रबंध करे, उद्दीपन विभाव है। युद्ध तथा उससे सम्बद्ध वचनों में अनुभावों को स्वीकृत किया जा सकता है। चन्द्रगुप्त तथा सिंहरण के व्यक्तिगत जीवन में जो प्रेम के मधुर क्षण आए हैं, उनसे शृंगार रस की निष्पति हुई। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में "वीर रस के साथ ही इस नाटक मे शृंगार रस भी मिलता है।"[3]

नाट्य-रूप

इसका प्रारम्भ तथा अन्त भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप नहीं। इसमें न तो नान्दी है और न ही भरतवाक्य। इसका प्रारम्भ पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी नाटकों के समान हुआ है और प्रमुख पात्रों—चन्द्रगुप्त, चाणक्य और सिंहरण—के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। कथानक की दृष्टि से भी एक मुख्य कथानक के साथ अनेक गौण कथानकों को प्रस्तुत किया गया है। कामदी के कथानक के समान ही इसका कथानक भी शिथिल है। स्थान और काल की अन्विति का ध्यान नहीं

---

१. जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त : प्रथम अंक : ग्यारहवाँ दृश्य : पृ० १०६

२. वही : चतुर्थ अंक : नौवाँ दृश्य : पृ० २४६

३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १६८

रख गया है।

पात्रों के चरित्रांकन में मानवीय सीमाओं को प्रस्तुत किया गया है। चाणक्य जैसा कठोर राजनीतिज्ञ भी सुवासिनी को देखकर विचलित हो जाता है। कुछ पात्रों का चरित्र शेक्सपियर के पात्रों के चरित्र के ही समान है। मगध के सम्राट् नंद का चरित्र शेक्सपियरीय खलनायक के ही समान है।[1] कथानक-विन्यास मे भारतीय कार्यावस्थाओं के साथ ही पश्चिम के संघर्ष को व्यापक धरातल पर चित्रित किया गया है। कुछ दृश्यों का आयोजन विशुद्ध रूप से पाश्चात्य नाट्य-विधान के आधार पर किया गया है, यथा—प्रथम अंक के चौथे दृश्य में राजा के अहेरी चीते का पिंजरे से बाहर भाग कर त्रास फैलाना, दूसरे अंक में ग्रीक शिविर में चन्द्रगुप्त का फिलिप्स, आम्भीक तथा एनिसाक्रेटीज के साथ युद्ध, पर्वतेश्वर और सिकन्दर का युद्ध, तीसरे अंक के पाँचवें दृश्य में कामुक नन्द का सुवासिनी को पकड़ने का प्रयत्न, शकटार का भूमि फाड़कर बाहर निकलना, चौथे अंक मे कल्याणी द्वारा पर्वतेश्वर का वध तथा बाद में अपनी हत्या करना, मालविका की हत्या, आम्भीक का युद्ध में मारा जाना, नन्द का शकटार द्वारा मारा जाना इत्यादि।

निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि समग्र परिवेश तथा प्रभाव की दृष्टि से यह रचना सुखान्तक है। इसमें भारतीय नाट्य-विधान के साथ ही पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी नाट्य-विधान को अपनाया गया है। कतिपय दोषों के होते हुए भी इस नाटक में भारतीय रस-विधान तथा पश्चिमी शील-वैचित्र्य का सुन्दर समन्वय हुआ है।

ध्रुवस्वामिनी

'ध्रुवस्वामिनी' प्रसादजी की अन्तिम नाट्यकृति है। नाट्य-शिल्प की दृष्टि से यह रचना पूर्ववर्ती रचनाओं से भिन्न है। पश्चिमी नाट्य-विधान से प्रसादजी ने शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावादी नाट्य-तत्त्वों को ही अधिकांश में ग्रहण किया है। किन्तु उन पर आधुनिक यथार्थवादी नाट्यकला का प्रभाव भी पड़ा है। यथार्थवादी नाट्य-कला को प्रश्रय देने वाले नाटकों में आधुनिक जीवन की समस्याओं को यथार्थवादी नाट्य-शिल्प के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रकार के नाटकों को 'समस्या-नाटक' कहा गया है। 'ध्रुवस्वामिनी' के सन्दर्भ में प्रायः सभी आलोचकों ने यह स्वीकार किया है कि "प्रसादजी ने अपनी इस रचना में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में आधुनिक नारी के जीवन की एक समस्या का बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह एक समस्या-नाटक है और इसके इस स्वरूप के पीछे पश्चिम के इसी कोटि के बुद्धिवादी नाटकों की प्रेरणा स्पष्ट प्रतीत होती है।"[2]

---

१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २५५
२. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २५६

वास्तव में यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' नाट्य-शिल्प की दृष्टि से एक नवीन प्रयोग है, तथा इसमें नारी जीवन की समस्या को प्रस्तुत करना ही 'प्रसादजी' का ध्येय रहा है, तथापि इसे 'समस्या-नाटक' नहीं कहा जा सकता। इसका विवेचन यथास्थान किया गया है। इस नाटक में पश्चिमी बुद्धिवादिता को कहीं-कहीं ग्रहण करते हुए भी व्यापक रूप से स्वच्छन्दतावादी नाट्य-तत्त्वों को ही किया गया है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन सत्य ही है कि "ध्रुवस्वामिनी नाटक में समस्या है अवश्य, किन्तु वह नाटक समस्या-नाटक नहीं है।"[1]

वस्तु-तत्त्व

इस नाटक में केवल तीन अङ्क हैं, और प्रत्येक अङ्क में केवल एक दृश्य। दूसरे शब्दों में तीन दृश्यों में सम्पूर्ण कथा को समाहित करने का प्रयत्न किया गया है। समस्या की दृष्टि से आधुनिकता होते हुए भी इस कथा का सम्बन्ध गुप्तवंश से स्थापित किया गया है। सम्राट् समुद्रगुप्त के दो पुत्र थे—रामगुप्त और चन्द्रगुप्त। सम्राट् समुद्रगुप्त ने कनिष्ठ पुत्र चन्द्रगुप्त को ही राज्य का भावी उत्तराधिकारी चुना, परन्तु मन्त्री शिखर स्वामी ने छल तथा कपट से रामगुप्त को सिंहासन पर बैठा दिया। इसी के साथ समुद्रगुप्त को दिग्विजय के अवसर पर उपहार में मिली ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त के स्थान पर रामगुप्त के साथ अनिच्छापूर्वक ब्याह दी जाती है। रामगुप्त दिन-रात मद्य में डूबा रहने के कारण शासन-भार को वहन करने में सर्वथा अयोग्य प्रमाणित होता है। उसे हर समय यही चिन्ता लगी रहती है कि किस प्रकार वह ध्रुवस्वामिनी का प्रणय प्राप्त कर सके। इधर ध्रुवसामिनी भी चन्द्रगुप्त के प्रति गुप्त प्रेम भाव रखने के कारण रामगुप्त की विलास-सहचरी नही बन पाती।

इतने में ही शकराज का आक्रमण होता है और रामगुप्त का शिविर दोनों ओर से शक सेना घेर लेती है। शकराज सन्धि के लिए ध्रुवस्वामिनी तथा अन्य सामन्त वीरों के लिए स्त्रियों की माँग करता है। रामगुप्त अपने मंत्री शिखरस्वामी से मंत्रणा करता है और मन्त्री यह व्यवस्था देता है कि राष्ट्र-रक्षा के लिए बड़े से बड़ा बलिदान किया जा सकता है। इस मंत्रणा का स्पष्ट आशय था कि ध्रुवस्वामिनी को राष्ट्र-रक्षा के लिए शकराज को दिया जाए। रामगुप्त के इस कुत्सित प्रस्ताव को सुनकर पहले तो ध्रुवस्वामिनी अनुनय-विनय करती है परन्तु राजा के हठ को देखकर उसमें आत्म-सम्मान की भावना जग जाती है। अनेक प्रकार से रामगुप्त को लांछित कर ध्रुवस्वामिनी आत्महत्या करने को उद्यत होती है कि उसी समय चन्द्रगुप्त आ जाता है। ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास भेजने की बात सुनकर वह अत्यन्त क्रोधित हो जाता है। कुछ ही क्षण पश्चात वह समस्या का हल ढूँढ़ लेता है। अन्य

---

१. नन्ददुलारे वाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० २५०

सामन्त कुमारों के साथ चन्द्रगुप्त ध्रुवस्वामिनी के वेश में शकराज के दुर्ग में जाने का निश्चय करता है। ध्रुवस्वामिनी भी चन्द्रगुप्त के साथ ही वहाँ जाने का निश्चय करती है।

शकराज के दुर्ग में उसकी प्रेमिका कोमा प्रेम-सागर में डूबी हुई एक काल्पनिक सुख का आनन्द प्राप्त करती दिखाई देती है। शकराज कोमा से प्रेम करने पर भी उदासीनता ही दिखाता है। कोमा तथा शकराज के वार्तालाप में खिंगिल आकर सूचना देता है कि रामगुप्त ने सभी शर्तों को स्वीकार कर लिया है। खिंगिल के इस समाचार से शकराज अत्यन्त प्रसन्न होता है। इस उत्सव की प्रसन्नता में सैनिकों को मदिरा पिलाई जाती है तथा नृत्य तथा गान का आयोजन किया जाता है। रात्रि के समय दुर्ग में ध्रुवस्वामिनी के साथ ही अन्य पालकियों में सामन्त कुमार आ जाते हैं। इसी बीच कोमा तथा शकराज में वाद-विवाद होता है और कोमा अपने पिता-तुल्य आचार्य मिहिरदेव के साथ दुर्ग से चली जाती है। इनके जाते ही स्त्री-वेश में चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी आती है। शकराज दोनों स्त्रियों को एक समान जानकर आश्चर्यचकित रह जाता है। चन्द्रगुप्त अपने को ध्रुवस्वामिनी कहता है। इसी विवाद के बीच चन्द्र-गुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी दोनों ही कटार निकाल लेते है। ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त का उत्तरीय खींच लेती है और चन्द्रगुप्त का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है। शकराज से चन्द्रगुप्त का युद्ध होता है और युद्ध में शकराज मारा जाता है। दुर्ग पर ध्रुव-स्वामिनी का अधिकार हो जाता है।

दुर्ग पर विजय का समाचार सुनकर रामगुप्त भी शिखरस्वामी के साथ दुर्ग में आ जाता है। इतने में पुरोहित आकर शातिकर्म करने की बात करता है तो ध्रुव-स्वामिनी उसे अपनी वास्तविक स्थिति बतायी है। आचार्य मिहिरदेव के साथ कोमा शकराज का शव ले जाती है, किन्तु मार्ग में ही रामगुप्त के सैनिक दोनों को मार डालते हैं। रामगुप्त आकर ध्रुवस्वामिनी को अपनी पत्नी तथा महादेवी कहकर सम्बोधित करता है, किन्तु ध्रुवस्वामिनी दोनों विभूतियों से अपने को पृथक् मानती है। रामगुप्त मन्दाकिनी को सुनकर सशंकित हो जाता है। चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाने की आज्ञा देता है। इतने में पुरोहित आकर यह विधान देता है कि क्लीव तथा कापुरुष रामगुप्त का ध्रुवस्वामिनी पर कोई अधिकार नही। चन्द्रगुप्त भी लौह-शृंखला तोड़-कर बन्धनमुक्त हो जाता है। परिषद् भी रामगुप्त को राज्यसिंहासन से च्युत करती है। शिखरस्वामी भी रामगुप्त का पक्ष छोड़ देता है। सभी प्रकार से विफल राम-गुप्त चन्द्रगुप्त का वध करने का प्रयत्न करता है, किन्तु एक सामन्त कुमार रामगुप्त की हत्या कर देता है। चन्द्रगुप्त राजाधिराज तथा ध्रुवस्वामिनी महादेवी पद को प्राप्त करती है।

इसका वस्तु-विन्यास एक ओर संस्कृत के नाट्य-विधान को लेकर चला है और दूसरी ओर शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावादी तथा इब्सन के यथार्थवादी नाट्य-विधान को। भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप इस नाटक के दो फल हैं: राक्षस-विवाह से

मोक्ष तथा महादेवी पद की सच्ची संप्राप्ति ।[1] इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रसादजी ने गुप्त वंश से कथानक का चुनाव किया है । 'ध्रुवस्वामिनी' में आई हुई अनेक घटनाओ का उल्लेख देवीचन्द्रगुप्तम्, नाट्य-दर्पण, हर्षचरित, काव्यमीमांसा, शृंगार प्रकाश, राष्ट्रकूट वंशज अमोघवर्ष प्रथम के लेखों तथा मजमुत्लउत्-तवारीख आदि में मिलते है ।[2] इस प्रकार 'ध्रुवस्वामिनी' का कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होने के कारण 'ख्यातवृत्त' के अन्तर्गत आता है । कथावस्तु अत्यन्त सीमित है, अतः घटनाओं को शृंखलाबद्ध करने के लिए कहीं-कहीं कल्पना से भी काम लिया गया है । इन काल्पनिक घटनाओं में ध्रुवस्वामिनी के प्रति चन्द्रगुप्त का मोह, चन्द्रगुप्त का विद्रोही होना, रामगुप्त द्वारा चन्द्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी के साथ शकराज के दुर्ग मे भेजने की आज्ञा, शकराज तथा कोमा का प्रणय-प्रसंग, पुरोहित तथा ध्रुवस्वामिनी का वार्तालाप तथा सैनिकों द्वारा रामगुप्त का विरोध ।

ध्रुवस्वामिनी तथा चन्द्रगुप्त की कथा अधिकारिक कथा है । प्रासंगिक कथा के रूप में कोमा तथा शकराज का प्रसंग है । कार्य का विकास भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों दृष्टियों से संगत बन पड़ा है । आरम्भ कार्यावस्था ध्रुवस्वामिनी के इस कथन में मिलती है ।

"पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता ।"[3]

इस अत्याचार के विरुद्ध उसका आत्महत्या के लिए सन्नद्ध होना 'प्रयत्न' के अंतर्गत आता है । चन्द्रगुप्त द्वारा शकराज का वध 'प्राप्त्याशा' को प्रस्तुत करता है तथा 'नियताप्ति' उस स्थल पर मानी जा सकती है जहाँ पुरोहित रामगुप्त का ध्रुव-स्वामिनी से सम्बन्ध-विच्छेदन घोषित करता है । चन्द्रगुप्त को राज्य-प्राप्ति तथा ध्रुवस्वामिनी को महादेवी पद की प्राप्ति से 'फलागम' सूचित होता है ।

भारतीय नाट्य-विधान के अनुकूल ही कुछ दृश्य 'सूच्य' कहे जा सकते हैं, यथा—शकों द्वारा रामगुप्त के शिविर को घेरना, आर्य समुद्रगुप्त की आज्ञा के विरुद्ध रामगुप्त का राज्य प्राप्त करना, शकराज तथा ध्रुवस्वामिनी के विवाह-सम्बन्ध का स्थिर होना, आर्य समुद्रगुप्त को ध्रुवस्वामिनी उपहार-स्वरूप मिलना, कोमा तथा आचार्य मिहिरदेव का वध इत्यादि ।

कथानक का प्रारम्भ स्वच्छन्दतावादी नाटक तथा यथार्थवादी नाटक के मिले-जुले शिल्प से हुआ है । स्वच्छन्दतावादी शिल्प के अनुरूप प्रधान पात्र की मानसिक अवस्था को प्रस्तुत किया गया है तथा यथार्थवादी समस्या-नाटक के शिल्प को ध्यान में रखते हुए विवाहोपरांत प्रेम तथा नारी की समस्या का चित्रण किया गया है ।

---

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १८५

२. डॉ० प्रेमदत्त शर्मा : प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ० ११६

३. जयशंकर प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० २६

समस्या नाटक के कथानक में एक ही विचार-बिन्दु की प्रधानता रहती है। यहाँ भी ध्रुवस्वामिनी के राक्षस विवाह की ओर ही आरम्भ से अन्त तक घटनाएँ चलती हैं। अन्य नाटकों के समान इसमे अनेक प्रासांगिक कथाएँ नहीं हैं। कोमा का प्रणय-प्रसंग आदर्शवादी प्रेम को प्रस्तुत करता है। डॉ० विश्वनाथ मिश्र के शब्दों में "इस विद्रोह के स्वरूप को और निखारने के लिये इसके तुलनात्मक विरोध में कोमा के शकराज के प्रति आदर्शवादी स्नेह-भाव को प्रस्तुत किया गया है।"[1] तृतीय अंक में कोई विशेष कथा नही। केवल मोक्ष तथा पुनर्लग्न की समस्या पर ही विचार किया गया है। किन्तु इस तर्क-वितर्क में समस्या-नाटक की बौद्धिकता के स्थान पर भावात्मकता ही मिलती है। कथानक के सीमित होने के कारण कार्य-व्यापार में क्षिप्रता है। अनेक स्थानों पर नाटकीयता के कारण चमत्कार उत्पन्न हुआ है। प्रथम अंक में हिजड़े, बौने तथा कुबड़े के वार्तालाप में बौने का यह कथन 'अपनी विजय का उपहार समझकर मैं तुम्हारा हरण कर लूँगा ठीक न होगा? कदाचित् यह धर्म के विरुद्ध न होगा।"[2] वास्तव में प्रतीकात्मक ढंग से ध्रुवस्वामिनी तथा आगामी घटना की ओर संकेत है। वास्तव मे डॉ० शर्मा का यह कथन उचित ही है कि "उतार-चढ़ाव का क्रम इतना सुन्दर रखा गया है कि स्थल-स्थल पर चमत्कार उत्पन्न हो उठा है।"[3] वास्तव में पश्चिमी ढंग का चमत्कार-प्रधान कथानक इसमें मिलता है।

चरित्र—समस्या-नाटक उद्देश्य-समस्या की प्रस्तुति है, चरित्र को उसके विविध रूपों में प्रस्तुत करना नहीं है। स्वच्छन्दतावादी नाटय-शिल्प में चरित्र पर ही सर्वाधिक बल दिया जाता है। इस नाटक में, जैसा कि पहले भी कहा गया है, यथार्थवादी तथा स्वच्छन्दतावादी नाट्य-शिल्प को सम्मिलित रूप से ग्रहण किया गया है। प्राय: आलोचकों ने इसके चरित्राकंन के सम्बन्ध में यही कहा है कि समस्या को प्रस्तुत करना ही लक्ष्य होने के कारण चरित्र अधिक उभर नहीं पाए है। वास्तव में इसमें समस्या के साथ ही चरित्रों की भी रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। यह नाटक नायिका-प्रधान नाटक है, अत: नायिका का चरित्र ही अधिक स्फुट रूप मे चित्रित किया गया है।

चन्द्रगुप्त

इस नाटक का नायक चन्द्रगुप्त है। ध्रुवस्वामिनी को जिस फल की प्राप्ति होती है वह उससे प्रत्यक्षत: सम्बद्ध है। नायक के चरित्र में उस प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व नही दिखाया गया है, जैसे अन्य प्रौढकालीन नाटकों में चित्रित किया गया है। उसका कारण यह है कि समस्या का सम्बन्ध ध्रुवस्वामिनी से है और वही नाटक

---

१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २५६

२. जयशंकर प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० २४

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा: प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १८१

की प्रधान पात्र है। चन्द्रगुप्त के चरित्र में भारतीय नायक के समान आदर्श गुण जाते है। आत्मसम्मान, वीरता तथा प्रेम के उदात्त भाव उसमें पाए जाते हैं। प्रेम के क्षेत्र में वह कुछ मौन तथा आमत्समर्पण के भाव को ही लेकर चला है। ध्रुवस्वामिनी को शकर'ज के दुर्ग मे भेजे जाने का विरोध करता हुआ वह स्वीकार करना है कि :

"मेरे हृदय के अन्धकार मे प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था......"[1]

कामदी नायक की भाँति चन्द्रगुप्त के चरित्र की अत्यधिक निष्क्रियता वास्तव में उसके चरित्र के दुर्बल पक्ष को ही प्रस्तुत करती है। तीसरे अंक में जब रामगुप्त चन्द्रगुप्त को बन्दी बनाता है तो वह कोई विरोध न कर शान्त भाव से बन्धन स्वीकार कर लेता है। उसी प्रकार प्रारम्भ में भी वह अपने राज्याधिकार तथा वाग्दत्ता ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त को दे देता है। इस प्रकार के स्थलों पर नायक अवश्य ही सहानुभूति खो देता है।

पाश्चात्य विधान के अनुरूप ही चन्द्रगुप्त के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व मिलता है। निराश तथा चिन्तन के गहन क्षणो में उसके हृदय के सच्चे उद्गार व्यक्त होते हैं :

"विधान की स्याही का एक बिन्दु गिरकर भाग्य-लिपि पर कालिमा चढा देता है। मैं आज यह स्वीकार करने में भी संकुचित हो रहा हूँ कि ध्रुवदेवी मेरी है। हाँ, वह मेरी है, उसे मैंने आरम्भ से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है।"[2]

चन्द्रगुप्त का चरित्र समस्या-नाटक के नायक का न होकर वास्तव में स्वच्छन्दतावादी उपकरणों से निर्मित हुआ है।

ध्रुवस्वामिनी

नाटक में प्रत्यक्षतः समस्या से सम्बद्ध होने के कारण तथा घटनाओं को मोड़ देने के कारण ध्रुवस्वामिनी ही नाटक की प्रधान पात्र है। उसे नायिका मानते हुए भी नायक के समान क्रियाशील तथा सतत प्रवाहमान् स्वीकार करना पड़ता है। डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा के शब्दों में "नाटक में प्रधान पात्र ध्रुवस्वामिनी है। सारे कार्य-व्यापारों के मूल में उसी का सम्बन्ध है और प्रधान फल की उपभोक्ती भी वही है।"[3]

ध्रुवस्वामिनी का चरित्र आधुनिक नारी का चरित्र है, जिसमें स्वतत्र होने के लिए, अधिकार प्राप्त करने के लिए अकुलाहट है, संघर्ष की भावना है। नारी के इस रूप को प्रस्तुत करने के लिए 'प्रसादजी' ने ध्रुवास्वामिनी के चरित्र को आद्यन्त विकसनशील रखा है उसका आरम्भ एक पत्नी के रूप में होता है जो कि अपनी वर्तमान परिस्थितियों से असन्तुष्ट है :

---

१. जयशंकर प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य, पृ० ३०
२. जयशंकर प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी : तीसरा अंक : पृ० ५७
३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १९६

'यह तो मैं जानती हूँ कि इस राजकुल के अन्तःपुर में मेरे लिए न जाने कब से नीरव अपमान संचित रहा, जो मुझे आते ही मिला...।'[1] किन्तु आगे चलकर परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ ही उसके चरित्र में भी परिवर्तन होता है। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में आधुनिक नारी की जागरूकता, बौद्धिकता तथा अपने अधिकारों के लिए सचेष्टता, आत्मसम्मान की भावना का उदय होता है। वह स्पष्ट शब्दों में अत्याचार का विरोध करती है :

'पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु-सम्पत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है, वह मेरे साथ नहीं चल सकता।''[2]

अपने सम्मान की रक्षा के लिए ध्रुवस्वामिनी प्राणों का मोह भी नहीं करती। ध्रुवस्वामिनी के चरित्र में जो विवेकशीलता, तर्कप्रधानता की वृत्ति है वह पश्चिम के बौद्धिक वातावरण के ही कारण है। चन्द्रगुप्त के साथ आलिंगन करने के पश्चात् उसका तर्क देना इसी का प्रमाण है।

समस्या-नाटकों में अधिकांश में प्रेम तथा विवाह की समस्या को ही प्रस्तुत किया जाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी के विवाहोपरान्त प्रेम की समस्या प्रस्तुत की गई है। सामाजिक दृष्टि से ध्रुवस्वामिनी का विवाह रामगुप्त से हुआ है, परन्तु प्रेम के क्षेत्र में वह रामगुप्त के स्थान पर चन्द्रगुप्त से ही प्रेम करती है। ध्रुवस्वामिनी का निम्न कथन इसी का द्योतक है :

'कुमार की स्निग्ध, सरल और सुन्दर मूर्ति को देखकर कोई भी प्रेम से पुलकित हो सकता है।'[3]

प्रेम की यही दमित भावना उस स्थल पर अभिव्यक्ति पाती है, जहाँ ध्रुवस्वामिनी भावावेश में आकर रामगुप्त के सामने ही चन्द्रगुप्त से आलिंगनबद्ध हो जाती है।

ध्रुवस्वामिनी का चरित्र जहाँ अधिकांश में आधुनिक नारी का चित्र उपस्थित करता है, वहीं उसके निर्माण में प्रसादजी ने भारतीय आदर्शवाद को भी समाविष्ट किया है। रामगुप्त के सम्मुख वह जिस दैन्य-भाव का प्रदर्शन करती है, आत्मप्रतारणा के रूप में अपनी त्रुटियों को स्वीकार करती है, वहाँ नारी का कोमल रूप प्रस्तुत किया गया है।

वास्तव में इस नाटक में आद्यन्त ध्रुवस्वामिनी का चरित्र ही उभरता है। परिस्थितियों से चरित्र का निर्माण हुआ है और चरित्र ने परिस्थितियों का निर्माण किया है।

---

१. जयशंकर प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० २६
२. वही : पृ० १३
३. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : २६४

रामगुप्त

रामगुप्त का चरित्र शास्त्रीय दृष्टि से प्रतिनायक का चरित्र है। डॉ॰ मिश्र के मतानुसार रामगुप्त में शेक्सपियर के खलानायक की वृत्ति पाई जाती है।[1] रामगुप्त का चरित्र एक कायर तथा सशंकित व्यक्ति का चरित्र है। उसे केवल यही चिन्ता रहती है कि किस प्रकार ध्रुवस्वामिनी केवल उसे ही प्रेम करे। रामगुप्त के चरित्र की कायरता शकों द्वारा शिविर के घेरने पर प्रकट होती है। राष्ट्र-रक्षा के प्रश्न पर तनिक भी ध्यान न देकर वह वैयक्तिक सनकों में खोया रहता है। शकों से युद्ध न कर वह अपने को हिजड़े, बौने तथा कुबड़े के हास्य-विनोद मे लगाए रहता है। रामगुप्त मे क्लीवता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि वह अपनी पत्नी तक को अपनी रक्षा के लिए आक्रमणकारियों को दे देने को प्रस्तुत हो जाता है। काव्य-न्याय के आधार पर ही अंत में उसका वध दिखाया गया है।

सवाद-योजना : इस नाटक की संवाद-गोजना पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्न है। शेक्सपियरीय संवादों के समान इसमें सर्वत्र दीर्घकाय तथा अत्यन्त काव्यात्मक संवाद नहीं हैं। इस नाटक के संवाद कहीं-कहीं दैनिक जीवन के व्यवहारोनुकूल खंडित तथा प्राय: असम्बन्ध है, परन्तु प्रसादजी ने यह प्रवृत्ति सर्वत्र नहीं अपनाई है। उदाहरण के लिए नवीन सम्वादयोजना का रूप निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है :

'देखो, कुमार के मन में छिपा हुआ कलुष कितना···कितना···भयानक है!'

संवादों पर अंशत. शेक्सपियर का प्रभाव भी शेष रहा है। ध्रुवस्वामिनी का प्रथम कथन ही दीर्घकाय तथा काव्यात्मक हो गया है। साथ ही ध्रुवस्वामिनी की मानसिक अवस्था को भी स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हुआ है :

'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की कठोरता अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर! और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न।'[2]

कामदी की संवाद-योजना के अनुरूप ही कहीं-कहीं व्यंग्य तथा विनोद भी मिलता है। इस प्रकार का शिप्ट हास्य ध्रुवस्वामिनी के निम्न कथन में देखा जा सकता है :

'मेरे अंचल में तो छिपे नहीं हैं। देखो किसी कुंज में ढूंढ़ो।'[3]

इस नाटक में यद्यपि प्रसादजी ने स्पष्ट रूप से 'स्वागत का नामोल्लेख नहीं किया है, तथापि कुछ कथन अवश्य ही ऐसे ही हैं जो स्वगत के समान हैं। इनका प्रयोग समस्या-नाटक में निषिध है। चन्द्रगुप्त से आलि नबद्ध होने के पश्चात् ध्रुवस्वामिनी का यह कथन 'कितना अनुभूतिपूर्ण था वह एक क्षण का 'आलिगन' उसकी मानसिक तृप्ति का सूचक है।

---

१. डॉ॰ विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ॰ २६४

२. जयशंकर प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ॰ १४

३. वही : पृ॰ १६

भाषा-शैली

अन्य उपकरणों के समान ही इस नाटक की भाषा भी पूर्ववर्ती नाटकों से भिन्न है। डॉ० ओझा के शब्दों में "भाषा की दृष्टि से भी यह नाटक पूर्ववर्ती तीन नाटकों से भिन्न है। इसकी भाषा परिमार्जित होते हुए भी बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है।'[1] यद्यपि इसकी भाषा बोलचाल की भाषा के अधिक निकट है, तथापि इसकी शैली काव्यात्मक ही रही है। भाषा का स्वरूप पात्रों की सामाजिक स्थिति तथा स्थल-भेद से परिवर्तित होता गया है। ध्रुवस्वामिनी जब विचारों को प्रस्तुत करती है, तब उसकी भाषा मे गहनता तथा काव्यात्मकता मिलती है :

'सीधा तना हुआ, अपने प्रभुत्व की साकार कठोरता, अभ्रभेदी उन्मुक्त शिखर और इन क्षुद्र कोमल निरीह लताओं और पौधों को इसके चरण में लोटना ही चाहिए न।'[2] किन्तु स्थल परिवर्तित हो जाने से, यथार्थ स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ध्रुवस्वामिनी की भाषा भी यथार्थवादी हो गई है।

कोमा की भाषा सर्वत्र काव्यात्मक रही है। वास्तव में इस पात्र के द्वारा वातावरण में भावुकता का संचार हुआ है। कोमा के कथनों में कहीं-कहीं दार्शनिक विचारणा भी मिलती है :

'प्रश्न स्वयं किसी के सामने नही आते। मैं तो समझती हूँ, मनुष्य उन्हें जीवन के लिए उपयोगी समझता है।'[3]

समग्र रूप से देखने पर 'ध्रुवस्वामिनी' की भाषा-शैली में काव्यात्मकता के होते हुए भी यथार्थवादी पुट अधिक है।

गीत-विधान

प्रसादजी ने 'ध्रुवस्वामिनी' में गीतों की योजना पूर्ववर्ती नाटकों के समान ही की है। समस्या-नाटक में गीतों का निषेध किया जाता है। इसमें चार गीत हैं। भाव की दृष्टि से पहले में अंक मन्दाकिनी का गीत 'यह कसक अरे आँसू सह जा' करुणा का सन्देश देता है। इसी अंक में सामान्त-कुमारों का गीत 'पैरों के नीचे जलधर हो' राष्ट्रीयसम्मान के प्रति जागरूकता प्रकट करता है। द्वितीय अंक में कोमा का गीत 'यौवन तेरी चंचल छाया' शृंगारपरक है तथा द्वितीय अंक में नर्तकियों द्वारा गाया गीत 'अस्ताचल पर युवती सन्ध्या की खुली अलक घुँघराली है' भी शृंगारपरक ही है। गीतिकाव्य की दृष्टि से केवल कोमा का गीत ही आकर्षक है।

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २५२
२. जयशंकर प्रसाद : ध्रुवस्वामिनी : प्रथम अंक : प्रथम दृष्य : पृ० १४
३. वही : द्वितीय अंक : प्रथम दृश्य : पृ० ३८

रस—शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर 'ध्रुवस्वामिनी' में वीर रस अंगी रूप में तथा शृंगार रस अंग रूप में प्रस्फुटित हुआ है। घटनाओं तथा चरित्रों के सीमित होने के कारण रस के समस्त अवयव उपलब्ध नहीं होते। 'उत्साह' स्थायी भाव नायक तथा नायिका दोनो में ही विद्यमान है, इसका आलम्बन है प्रतिनायक रामगुप्त। रामगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी को शक दुर्ग मे भेजने का प्रयत्न उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आता है. चन्द्रगुप्त द्वारा रामगुप्त की भर्त्सना अनुभाव के अन्तर्गत आती है। शृंगार रस अत्यन्त संक्षिप्त रूप में चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी के चरित्रों में प्रस्फुटित हुआ है। इसका आश्रय है चन्द्रगुप्त तथा आलम्बन ध्रुवस्वामिनी। ध्रुवस्वामिनी द्वारा प्रेम प्रदर्शित करना उद्दीपन विभाव है तथा चन्द्रगुप्त तथा ध्रुव-स्वामिनी का उन्मत्त होकर आलिंगन करना अनुभाव है।

नाट्य-रूप—'ध्रुवस्वामिनी' के नाट्य-रूप को यद्यपि कामदी ही स्वीकार किया गया है, तथापि इस पर पश्चिम के बुद्धिवादी, यथार्थपरक समस्या-नाटक का प्रभाव भी पड़ा है। यही कारण है कि इसका नाट्य-रूप एक ओर भारतीय नाट्य-विधान तथा दूसरी ओर पश्चिम के दो नाट्य-रूपों को एक साथ मिलाकर चला है। सभी आलोचकों ने यह स्वीकार किया है कि 'इसका उद्देश्य स्त्री के पुनर्विवाह की समस्या पर प्रकाश डालना है।'[1] किन्तु केवल समस्या को ही प्रस्तुत करने के कारण इसे समस्या-नाटक नही कहा जा सकता, जैसा कि डा० विश्वनाथ मिश्र का कथन है कि "इस प्रकार यह एक समस्या-नाटक है।"[2] वास्तव मे इस पर स्वच्छन्दतावादी शिल्प की अपेक्षा यथार्थवादी शिल्प का अधिक प्रभाव पड़ा है, किन्तु वह प्रभाव ही है, उससे नाट्य-रूप में समस्या-नाटक की मूल आत्मा का प्रवेश नहीं हो सका है। नाटक के आरम्भ मे विस्तृत-रंग-संकेत देना, एक अंक में एक ही दृश्य प्रस्तुत करना यथा समस्या को प्रस्तुत करना इसे अवश्य ही समस्या-नाटक के निकट ले आते हैं। किन्तु इसके विपरीत इसकी 'काव्यात्मक भाषा इस पर शेक्सपियर की भावुक शैली का प्रभाव सिद्ध करती है। नाटक के गीत, अंग्रेजी प्रगीतों के समान सुनाई देते हैं।'[3] इसके अति-रिक्त पहले अक में ध्रुवस्वामिनी द्वारा कृपाणी निकालकर आत्महत्या का प्रयत्न वाता-वरण में एक उत्तेजनात्मक भय की सृष्टि करता है। यह समस्या-नाटक के वातावरण की अपेक्षा शेक्सपियर नाटकों के वातावरण के अनुकूल है। समस्या-नाटक में भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता मिलती है। ध्रुवस्वामिनी द्वारा भावावेश में चलकर चन्द्रगुप्त का आलिंगन भावुकता का परिचायक है। द्वितीय अंक में कोमा का प्रणय-प्रसंग भी स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण के कारण आया है। स्वच्छन्दतावादी नाट्य-शिल्प के अनुरूप ही दैवी शक्ति को स्वीकार किया गया है। द्वितीय अंक में जिस षड्यंत्र का

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २५२
२. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २५६
३. डॉ शान्तिगोपाल पुरोहित : हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन : पृ० १८१

आयोजन किया गया है वह शेक्सपियरीय कामदी की विशेषता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसादजी ने समस्या-नाटक के अनुरूप ही वस्तु की दृष्टि से मोक्ष तथा पुनर्लग्न की समस्या प्रस्तुत की है तथा शिल्प की दृष्टि से यथार्थवादी संवाद-योजना, भाषा-शैली तथा रंगमंच प्रस्तुत किया है, तथापि यह समस्या-नाटक से इस अर्थ मे भिन्न है कि इसका समाधान भी नाटककार ने स्वयं ही प्रस्तुत कर दिया है। वातावरण मे बौद्धिकता के स्थान पर भावुकता का संचार किया गया हैं।

: ५ :

गीतिनाट्य

करुणालय

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से प्रसादजी ने पश्चिमी नाट्य-रूपों में केवल त्रासदी तथा कामदी के तत्त्वों को ही अपने नाटकों में स्थान नहीं दिया है, अपितु उन्होंने अन्य नाट्य-रूपों को भी किसी-न-किसी सीमा तक ग्रहण किया है। प्रसादजी मूलत: कवि होने के कारण नाटकों में काव्य को भी साथ लेकर चले हैं। उनके कवि रूप को यद्यपि अभी नाटकों में अभिव्यक्ति मिली है, तथापि 'करुणालय' में इस रूप को सर्वाधिक स्थान पाने का गौरव मिला है। नाट्य-शिल्प की दृष्टि से 'करुणालय' गीतिनाट्य के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। गीतिनाट्य में काव्यत्व तथा नाट्यत्व दोनों ही मिले रहते हैं। 'करुणालय' को गीतिनाट्य के शिल्प की दृष्टि से आलोचकों ने सफल रचना स्वीकार नहीं किया है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "न कवित्व की दृष्टि से और न नाट्य की ही दृष्टि से यह रचना सफल कही जा सकती है।"[1] वास्तव मे इस रचना में काव्यत्व तथा नाटकत्व का सम्मिश्रण तो मिलता है, किन्तु कवित्व के माध्यम से जिस अन्त:संघर्ष को चित्रित किया जाता है उसका सुष्ठु रूप इसमें नही मिलता है।

वस्तु-तत्त्व

इसका संबंध पौराणिक वृत्त से है। राजा हरिश्चन्द्र की पुत्र-कामना को वरुण पूरा करते हैं, किन्तु इसके साथ ही वे एक शर्त लगा देते हैं कि पुत्र के युवा होने पर हरिश्चन्द्र उसका बलिदान कर वरुण को भेंट दे देंगे। वरुण हरिश्चन्द्र को पुत्ररत्न दे देते है। पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् हरिश्चन्द्र पुत्र-बलि को टालते रहते हैं। राजा हरिश्चन्द्र के इस प्रकार प्रतिज्ञा-भंग करने पर वरुण क्रुद्ध हो जाते हैं। एक दिन जब अपने सेनापति ज्योतिपमान् के साथ राजा हरिश्चन्द्र सरयू में नौका-विहार कर रहे होते हैं तो अचानक उनकी नौका स्तब्ध हो जाती हैं। राजा हरिश्चन्द्र तथा सेनापति दोनो ही आश्चर्यचकित रह जाते हैं। उसी समय आकाशवाणी होती है और राजा की भर्त्सना कर उसे पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण कराया जाता है। राजा हरिश्चन्द्र प्रतिज्ञा पूर्ण करने का वचन देते है और नौका का अवरोध समाप्त हो जाता है।

दूसरे दृश्य में रोहित को वन में पिता द्वारा दी गई आज्ञा तथा जीवन को भोगने पर विचार करते हुए दिखाया गया है। रोहित के मन मे देश-विदेश देखने की

---

१. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ९५

इच्छा तथा यौवन के आनन्द को भोगने के लिए तीव्र लालसा जन्म लेती है। वह पिता की आज्ञा को भंग करने का निश्चय करता है। उसके इस निश्चय का नेपथ्य से प्रकृति अनुमोदन करती है।

तीसरे दृश्य में क्षुधा-पीड़ित ऋषि अजीगर्त को दिखाया गया है। सभी पशुओं के मर जाने पर तथा अन्न के अभाव के कारण ऋषि अजीगर्त दैन्य अवस्था में अपना जीवन व्यतीत करता है। रोहित अजीगर्त की हीन अवस्था को देखकर उसकी सहायता करने को कहता है। सौ गायों के बदले वह अजीगर्त के मध्य पुत्र शुनःशेफ का विक्रय कर लेता है। नरबलि के लिए रोहित उसे लेकर अयोध्या पहुँचता है।

चौथे दृश्य में दरबार में राजा हरिश्चन्द्र तथा रोहित का विवाद होता है। हरिचन्द्र पुत्र के पलायन का विरोध करते हैं, किन्तु वसिष्ठ आकर रोहित के पलायन का समर्थन करते हैं। वे शुनःशेफ से उसकी स्वीकृति लेकर यज्ञ के आयोजन का आदेश देते हैं।

अन्तिम दृश्य में यज्ञ-मण्डप में राजा हरिश्चन्द्र, रोहित, वसिष्ठ, अजीगर्त तथा शक्ति आदि सभी उपस्थित हैं। शुनःशेफ यूप में बँधा है। शक्ति उसके वध के लिए आगे बढ़ता है, किन्तु करुणा से विचलित होकर वह पीछे हट जाता है। शक्ति के पिता वसिष्ठ शक्ति के इस कर्म पर उसकी भर्त्सना करते हैं। लोभी अजीगर्त एक सौ गायों के और लेने की बात कर स्वयं इस क्रूर कर्म को करने के लिए तैयार हो जाता है। यूप मे बँधा शुनःशेफ करुणा-विधान की अत्यन्त कारुणिक शब्दों में प्रार्थना करता है। सहसा आकाश में गर्जन होता है। सभी शक्तिहीन हो जाते है। विश्वामित्र मधुच्छन्दा आदि सौ पुत्रों के साथ यज्ञ-मण्डप में प्रवेश करते है। विश्वामित्र वसिष्ठ के क्रूर-कर्म की भर्त्सना करते है। इसी समय एक राजकीय दासी यज्ञ-मण्डप में प्रवेश कर अजीगर्त की भर्त्सना करती है। विश्वामित्र को भी उसके गान्धर्व विवाह का स्मरण करा दासी यह रहस्य खोलती है कि वह विश्वामित्र की गान्धर्व विवाहिता पत्नी सुव्रता है जिसे विश्वामित्र छोड़कर चले गये थे। सुव्रता का ही पुत्र शुनःशेफ है जिसे ऋषि आश्रम में छोड़कर सुव्रता राजकीय दासी बन गई। विश्वामित्र सुव्रता को दासीत्व से मुक्ति दिलाते हैं। अन्त में सभी पात्र करुणा-विधान की प्रार्थना करते हैं।

'करुणालय' का उद्देश्य वैदिक काल में प्रचलित अमानुषिक नरबलि पर व्यंग्य करना है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर प्रसादजी ने कथा का चुनाव पौराणिक वृत्त से किया है। इसके कथानक का आधार श्रीमद्भागवत पुराण है। प्रायः सभी प्रमुख घटनाएँ पौराणिक ही है। अतः कथानक का चुनाव शास्त्रीय शब्दावली में ख्यातवृत्त से किया गया है।[1] गीतिनाट्य की दृष्टि से भी यह उसके अनुरूप है। गीतिनाट्य में पौराणिक वृत्तों को अधिक प्रस्तुत किया जाता है। नाटकीयता की दृष्टि

१. डॉ० प्रेमदत्त शर्मा : प्रसाद साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ० ९७

से इसमें कुछ घटनाओं में कल्पना से भी आश्रय लिया गया है। इनमें राजा हरिश्चन्द्र का सेनापति के साथ नौका-विहार करना, नौका का जल में स्तब्ध होना, आकाशवाणी द्वारा राजा की पूर्व प्रतिज्ञा का स्मरण, वसिष्ठ द्वारा राजा हरिश्चन्द्र तथा रोहित के विवाद को शांत कराना। शुनःशेफ की बलि के लिए वसिष्ठ का प्रोत्साहन, विश्वामित्र का यज्ञ-मण्डप में आगमन, सुव्रता का पति तथा पुत्र को पहचानना आदि है।

भारतीय विधान के अनुरूप इसमें मुख्य उद्देश्य की दृष्टि से राजा हरिश्चन्द्र तथा रोहित का कथानक मुख्य है। इसी मुख्य कथानक को दृष्टि में रखकर नरबलि के प्रसंग से हटकर नाटककार विश्वामित्र तथा सुव्रता के प्रणय की कथा तथा शुनःशेफ की कथा प्रारम्भ करता है। इस प्रकार इसमे कहानी कहने की प्रवृत्ति प्रसादजी में अधिक है। इसी कारण डॉ० शर्मा ने कहा भी है कि "इस रचना में नाटकीय अंश की न्यूनता और कहानी-तत्त्व की ही प्रधानता है। इसे कथोपकथन के द्वारा पद्य में लिखी हुई कहानी ही समझना चाहिए।"[१] भारतीय विधान के अनुरूप ही इसमें सूच्य कथांश भी मिलता है। प्रथम दृश्य में सरयू तट-कानन के सम्बन्ध में पूर्व घटना की सूचना—

'हिंस्र जन्तु से पूर्ण, मनुज-पशु थे यहाँ।
आर्य्य-पूर्व-पुरुषों की ही यह कीर्ति है,
जो अब ये उद्यान सजे, फल फूल से।[२]'

इसी प्रकार राजा हरिश्चन्द्र द्वारा रोहित के बलि देने की पूर्व प्रतिज्ञा की सूचना तथा पाँचवें दृश्य में सुव्रता तथा विश्वमित्र के प्रणय-प्रसंग के अन्तर्गत विश्वामित्र तथा सुव्रता का गान्धर्व-विवाह, विश्वामित्र द्वारा सुव्रता को छोड़कर चले जाना, सुव्रता को ग्राम से निकाला जाना तथा ऋषि आश्रम मे अजीगर्त का जन्म इत्यादि घटनाएँ सूचित की गई है।

गीतिनाट्य की दृष्टि से कथानक के अन्तर्गत कवित्व के द्वारा अन्तःजगत् का चित्रण प्रस्तुत किया जाता है तथा नाटकत्व के द्वारा नाटकीय स्थितियों का सृजन किया जाता है। गीतिनाट्य के मूल तत्त्व मानसिक संघर्ष को चित्रित करने के लिए बहुत अधिक अवकाश रहा है, तथापि इसका प्रयोग बहुत दुर्बल रहा है। राजा हरिश्चन्द्र के चरित्र में इसका रूप कुछ सीमा तक मिलता है। हरिश्चन्द्र एक सत्यवादी राजा ही नहीं अपितु एक पिता भी है जिसके हृदय में पुत्र प्रेम है। आकाश से प्रतिज्ञा को पूरा करने के आदेश को सुन कर उसके हृदय में उठने वाले पुत्र-प्रेम की सहज अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में हुई है :

'आह देव यदि आप जानते समझते
कितनी ममता होती है सन्तान की'[२]

---

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १०

२. जयशंकर प्रसाद : करुणालय : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० १३

किन्तु यह अन्तःसंघर्ष यहीं तक सीमित रहा है। इस स्थल पर यद्यपि कर्तव्य-भावना और पुत्र-प्रेम के बीच संघर्ष के लिए अत्यधिक अवकाश था, परन्तु यह संघर्ष हरिश्चन्द्र के निम्न कथन से समाप्तप्राय हो जाता है :

'देव ! जन्मदाता हूँ फिर भी अब नहीं
देर करूँगा, बलि देने में पुत्र को।
जो कर चुका प्रतिज्ञा उसकी भूल के
क्रोधित होने का अवसर दूँगा नहीं।'[1]

हरिश्चन्द्र के इस अन्तःसंघर्ष के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि 'हरिश्चन्द्र की कर्तव्य-भावना और पुत्र-प्रेम के बीच संघर्ष बड़ा शिथिल है—करीब-करीब नहीं के बराबर है।'[2]

कहानी-तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इस नाटक में नाटकीय तत्त्व निष्प्रभ हो गया है।[3] बहुत कम स्थलों पर नाटकीय स्थितियों का सृजन हो पाया है। पहले अंक में सरयू नदी में नाव का चलते-चलते सहसा रुक जाना तथा नेपथ्य से गर्जन होना नाटकीयता उत्पन्न करता है :

'मिथ्याभाषी यह राजा पाखण्ड है
इसने सुत बलि देना निश्चित था किया
× × ×
उसका है यह दण्ड, आह ! हतभाग्य यह
जा सकता है नहीं कहीं भी नाव से।'[4]

इसी प्रकार की नाटकीय स्थिति नाटक के अन्तिम दृश्य में आती है। शुनःशेफ यूप में बँधा हुआ प्रार्थना करता है, अजीगर्त सौ गायों के बदले शुनःशेफ का वध करने के लिए प्रस्तुत होता है। इस स्थल पर कथानक में एकदम तीव्रता, कौतूहल तथा नाटकीय संघर्ष की चरम सीमा भी आ जाती है :

'और एक सौ गायें मुझको दीजिए,
मैं कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही।'

किन्तु इस नाटकीय संघर्ष का यथोचित निर्वाह नहीं किया गया है। जो प्राणवत्ता इस स्थल पर आती है, वह विश्वामित्र के आगमन तथा लम्बे उपदेश से समाप्त हो जाती है। इसके साथ ही सुव्रता के प्रणय-प्रसंग में इस सीमा तक आगे चला जाता है कि मूल प्रभाव भी विच्छिन्न होने लगता है।

निष्कर्ष रूप में कथानक की दृष्टि से देखने पर कहा जा सकता है कि गीति-

---

१. जयशंकर प्रसाद : करुणालय : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० १५
२. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ९७
३. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २१५
४. जयशंकर प्रसाद : करुणालय : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० १५

नाट्य के उपयुक्त होते हुए भी अधिक प्रभावोत्पादक ढंग पर प्रस्तुत नहीं किया गया है।

चरित्र

इस नाटक में पात्रों की संख्या अधिक नहीं है। मुख्य रूप से राजा हरिश्चन्द्र तथा रोहित और गौण रूप से अजीगंत, वसिष्ठ तथा विश्वामित्र हैं। चरित्रांकन की दृष्टि से कोई भी पात्र भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप आदर्श पात्र नही है। इससे प्रायः सभी पात्रो के चरित्र के खोखलेपन को ही प्रस्तुत किया गया है।

हरिश्चन्द्र : हरिश्चन्द्र का चरित्र परम्परा से सत्यवादी का चरित्र माना जाता रहा है। किन्तु 'करुणालय' में प्रसादजी ने हरिश्चन्द्र के चरित्र की आदर्श-वादिता को अनावृत कर मानवीय दुर्बलताओं को प्रस्तुत किया है। गीतिनाट्य मे पात्र के आन्तरिक जीवन की समस्याओं, आशाओं-निराशाओं या सघर्ष को चित्रित किया जाता है। यह संघर्ष हरिश्चन्द्र की कर्तव्य-भावना तथा पुत्र-प्रेम में भी थोड़ा-बहुत मिलता है।

हरिश्चन्द्र एक आदर्श राजा नही, अपितु उसमे भी मानवीय दुर्बलताएँ है जो उसकी हृदयहीनता का परिचय देती हैं। एक ओर प्रजापालक हरिश्चन्द्र है और दूसरी ओर धर्म के स्थूल रूप की रक्षा करने वाला हरिश्चन्द्र है जो कि अपने पुत्र के स्थान पर ऋषि-पुत्र के बलिदान को स्वीकार करने मे तनिक भी नहीं हिचकिचाता :

'जो आज्ञा हो, मैं करता हूँ सब अभी।'

रोहित : रोहित के चरित्र में गीतिनाट्य के प्राणतत्त्व अन्तःसंघर्ष का रूप अन्य पात्रों की अपेक्षा अधिक सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुआ है। रोहित के चरित्र में एक ओर पिता के प्रति कर्तव्य-भावना है और दूसरी ओर जीवन-लालसा। कानन में बैठे हुए रोहित के मन में उठने वाले इसी संघर्ष का चित्रण निम्न पंक्तियों में मिलता है :

'पिता परमगुरु होता है : आदेश भी
उसका पालन करना हितकर धर्म है।
किन्तु निरर्थक मरने की आज्ञा कड़ी
कैसे पालन करने के है योग्य यों।'[1]

और इस संघर्ष का फल होता है—राज्य से पलायन। वास्तव में रोहित के अन्तः-संघर्ष का आयाम और भी विस्तृत हो सकता था, किन्तु प्रसादजी ने रोहित को अजीगर्त के आश्रम मे पहुँचाकर इसकी सम्भावनाएँ समाप्त कर दीं। चौथे दृश्य में अपने पिता हरिश्चन्द्र के साथ रोहित जो तर्क-वितर्क करता है, उस पर आधुनिक युग के बुद्धिवाद का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है। अपने पलायन की पुष्टि में रोहित का निम्न कथन द्रष्टव्य है :

---

१. जयशंकर प्रसाद : करुणालय : प्रथम अंक : द्वितीय दृश्य : पृ० १७

"सुनिये, मैंने रक्षा की है धर्म की
नहीं आप होते अनुगामी निरय के
पुत्र न रहता, तो क्या होता कौन फिर
देता पिण्ड निलोदक। यह भी समझिये।'[1]

डॉ० नगेन्द्र ने इस तर्क को बहुत 'साधारण और शक्तिहीन' माना है।[2]

अजीगर्त : अजीगर्त यद्यपि एक ऋषि है, किन्तु उसका चरित्र एक अधम पात्र का चरित्र है। क्षुधा से पीड़ित होकर अजीगर्त अपने पुत्र (यह उसका औरस पुत्र नहीं है) शुनःशेफ को बिना किसी संकोच के बेचने के लिए तैयार हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो क्षुधा-ज्वाला मे अन्य विशेषताओं के साथ उसकी मानवीय सहानभूति, पुत्र-प्रेम भी जल कर राख हो गया है :

'हाँ हाँ ! मुझको सब बाते स्वीकार हैं।
चलो मुझे पहले गायें दे दो अभी।'[3]

अजीगर्त का चरित्र उस स्थल पर तो नितांत अमानुषिक हो जाता है जबकि वह एक सौ गायों के बदले अपने ही पुत्र के वध के लिए प्रस्तुत हो जाता है :

'और एक सौ गायें मुझको दीजिये,
मैं कर दूँगा काम आपका शीघ्र।'[4]

संवाद-योजना

इसकी संवाद-योजना पद्यात्मक है तथा गीतिनाट्य के अनुरूप है। डॉ० ओझा के शब्दों मे "पद्यात्मक कथोपकथन गीतिनाट्य की शैली पर किया गया है"।[5] एक पात्र पद्य में बोलता है तो दूसरा पात्र भी पद्य में ही उत्तर देता है। रोहित तथा अजीगर्त के निम्न संवाद में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है :

अजीगर्त—**हाँ हाँ मुझको सब बातें स्वीकार हैं।**
चलो मुझे पहले गायें दे दो अभी।'[5]
रोहित—**'अच्छा, उसको यहाँ बुलाओ देख लें**
हम भी ; मध्यम पुत्र तुम्हारा है कहां ?'[6]

प्रसादजी का व्यक्तित्व मूलतः काव्यात्मक तथा दार्शनिक होने के कारण अपने पात्रों को भी उसी रूप में प्रस्तुत करता है। पहले दृश्य में हरिश्चन्द्र तथा सेनापति

१. जयशंकर प्रसाद : करुणालय : प्रथम अंक : द्वितीय दृश्य : पृ० २८
२. डॉ० नगेंद्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ९७
३. जयशंकर प्रसाद : करुणालय : प्रथम अंक : तृतीय दृश्य : पृ० २४
४. वही : पंचम दृश्य : पृ० ३१
५. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकाश : पृ० २१५
६. जयशंकर प्रसाद : करुणालय : प्रथम अंक : तृतीय दृश्य : पृ० २४-२५

के संवादों मे प्रकृति का काव्यात्मक वातावरण प्रस्तुत किया गया है :

'सान्ध्य निलिमा फैल रही है, प्रान्त में
सरिता के। निर्मल विधु बिम्ब विकास है,
जो नभ में धीरे-धीरे है चढ़ रहा।'[1]

प्रारम्भिक रचना होने के कारण कही-कहीं संवाद-योजना अत्यन्त शिथिल तथा नीरस हो गई है। निम्न उदाहरण द्रष्टव्य है :

'क्यों जी ! तुमको दिया पिता ने क्या इन्हें
मूल्य लिया है ?'[2]

संवादों से कथा का विकास तथा चरित्र पर प्रकाश दोनों ही कार्य किए गए हैं। हरिश्चन्द्र के कथनों से उसके चरित्र की भावुकता, रोहित के कथनों से विवेकशीलता, तर्क-प्रधानता तथा अजीगर्त के कथनों से लोभी प्रवृत्ति का पता लगता है। इन संवादों में नाटकीयता कम और कहानी की प्रवृत्ति अधिक झलकती है।

भाषा-शैली

गीतिनाट्यकार को भाषा की दृष्टि से अधिक सतर्कता बरतनी पड़ती है। इसकी भाषा न तो अधिक क्लिष्ट और न ही इतनी सरल होती है कि वह दैनिक जीवन के वार्तालाप के समान हो जाए। प्रसादजी के प्राय: सभी नाटकों मे जो गद्य प्रयुक्त हुआ है वह साहित्यिक, परिमार्जित, दैनिक जीवन के वार्तालाप से भिन्न है। किन्तु 'करुणालय' में सर्वत्र पद्य का प्रयोग होने से गद्य जैसी साहित्यिक भाषा नहीं मिलती। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है, उसमें भागवत सौन्दर्य नहीं मिलता। केवल छंद के कारण गद्य को पद्य में परिवर्तित कर दिया गया है। प्रारम्भिक रचना होने के कारण कही-कहीं भाषागत त्रुटियाँ भी हैं, यथा—

"प्रिय ! एक भी पशु न रहे अब पास में क्या इन्हें मूल्य लिया है ?"

शैली के अन्तर्गत इसकी रचना अतुकात मात्रिक अरिल्ल छंद में हुई है। इस छंद को प्रसादजी ने बंगला से ग्रहण किया है। बंगला में इसे शेक्सपियर के ब्लैक वर्स से ग्रहण किया गया है। डॉ० मिश्र के शब्दों में 'करुणालय मे उन्होंने अंग्रेजी के अमित्राक्षर छन्द (ब्लैक वर्स) में गीतिनाट्य का एक प्रयोग प्रस्तुत किया।'[3] यह मात्रिक छंद २१ मात्राओं का है, तथा इसमे विराम चिन्ह वाक्य-रचना के अनुरूप दिए गए है :

'महाराज ! इस तट-कानन को देखिये,
कैसा है हो रहा सघन तर्क-जाल से।'

नाट्य-रूप

अंत में इसके रूप-विधान पर विचार करना भी समीचीन है। 'करुणालय' की

---

१. जयशंकर प्रसाद : करुणालय : प्रथम अंक : प्रथम दृश्य : पृ० १६
२. वही : चतुर्थ दृश्य : २१
३. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २१७

'सूचना' में प्रसादजी ने यह स्पष्टतया स्वीकार किया है कि "यह दृश्यकाव्य गीति-नाट्य के ढंग पर लिखा गया है।"[1] गीतिनाट्य के शिल्प की दृष्टि से यह पहले ही स्वीकार किया जा चुका है कि यह रचना सफल नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि 'यह नाटक भी प्राचीनता की परम्परा से मुक्त नहीं हो पाया है।'[2] वास्तव में इसकी शैली पर शेक्सपियर का प्रभाव दिखाई देता है। प्रथम दृश्य में जो लंबा प्रकृति वर्णन है, वह गीतिनाट्य की दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं है, किन्तु प्रसादजी ने स्वच्छन्दतावादी प्रभाव के कारण इसे नाटक में स्थान दिया है। 'नेपथ्य' का प्रयोग भारतीय नाट्य-विधान में मिलता है। किन्तु 'करुणालय' में जिस रूप में नेपथ्य का प्रयोग किया गया है, वह भारतीय नाट्य-विधान के पूर्णरूपेण अनुरूप नहीं है। यहाँ 'नेपथ्य' में जिस अतिप्राकृत तत्त्व को एक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है वह शेक्सपियरिय नाटकों के अनुरूप है। 'आकाशभाषित' का प्रयोग भारतीय नाट्य-विधान मे मिलता है। पंचम दृश्य में शुनःशेफ के वध के लिए उसे यूप मे बाँध कर जिस करुणा तथा भय की सृष्टि की गई है वह भी पाश्चात्य-विधान के कारण है।

कथानक की दृष्टि से इसके अन्त में सुव्रता के प्रणय-प्रसंग को प्रसादजी ने जो प्रमुखता दी है वह गीति-नाट्य की दृष्टि से अनावश्यक तथा समष्टि-प्रभाव को नष्ट कर देती है, किन्तु स्वच्छन्दतावादी भावना के यह अनुकूल है। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित कथानक के दो अंग-अभिज्ञान तथा स्थिति-विपर्यय—भी इसमें मिलते हैं। पंचम दृश्य में सुव्रता का अपने पति विश्वामित्र तथा पुत्र शुन.शेफ को पहचानना अभिज्ञान के अन्तर्गत है तथा इस अभिज्ञान से स्थिति में परिवर्तन आता है, वह स्थिति-विपर्यय का परिचायक है।

इसका अंत भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप परमात्मा की प्रार्थना से होता होता है। डॉ० शर्मा के शब्दों में "इस प्रकार संसार की मंगल-भावना से यह एकांकी समाप्त होती है।"[3] अतः समग्र रूप से देखने पर यह कहा जा सकता है कि यह रचना भारतीय नाट्य-विधान से प्रभावित है, तथा गीतिनाट्य के रूपमें पूर्ण सफल न होते हुए भी उसके नाट्य-शिल्प को अपने में समाहित किए हुए है।

---

१. जयशंकर प्रसाद : करुणालय : सूचना।

२. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० ४५

३. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० १०

: ६ :

प्रतीकात्मक नाटक

कामना

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से 'कामना' नाटक प्रसादजी के अन्य नाटकों से भिन्न होते हुए भी वस्तु तथा उद्देश्य की दृष्टि से पूर्ववर्ती नाटकों की श्रेणी में ही आता है। ऐतिहासिक नाटकों के समान ही इस नाटक में भी प्रसादजी ने प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य का ही प्रतिपादन किया है। सांस्कृतिक दृष्टि से इस रचना का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि इसकी रचना संक्रान्ति काल में हुई है। आज भारतीय पाश्चात्य संस्कृति का जो अन्धानुकरण कर रहे है, तथा उससे हमारी सभ्यता तथा संस्कृति पर जो घातक प्रभाव पड़ रहा है, उसी का चित्रण 'कामना' में प्रतीकात्मक ढंग पर किया गया है। कथ्य के साथ ही शिल्प में भी परिवर्तन होता है। प्रसादजी ने कामना, लालसा, विलास आदि अन्तर्वृत्तियों को मानवीय रूप देकर रूपक के माध्यम से प्रतीक को आधार मान कर 'कामना' की रचना की है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "कामना सांस्कृति रूपक है। इसमें प्रसादजी की सांस्कृतिक पुनर्निर्माण की भावना का एक व्यक्त रूप मिलता है।"[१]

जहाँ तक नाट्य-शिल्प का प्रश्न है, वह पश्चिम की देन है, किन्तु इसका थोड़ा-बहुत रूप संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' तथा 'देवमाया प्रपंच' में भी मिलता है। बंगला नाट्य-साहित्य में रवीन्द्रनाथ के प्रतीकात्मक नाटकों से भी प्रसादजी अवश्य ही प्रभावित रहे होंगे। परन्तु डॉ० दशरथ ओझा का मत है कि "यह नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' की शैली पर रचा गया है, जिसका एक रूप 'देवमाया प्रपच' वा पाखंड-विडम्बन' में देख आए है।"[२] प्रतीकात्मक नाटक मे प्राय: किसी दार्शनिक अथवा सांस्कृतिक चिन्तन को प्रतीक-विधान के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। 'कामना' वस्तुत: भारतीय सभ्यता और संस्कृतिक के पाश्चात्य प्रभाव के कारण विकास, ह्रास तथा पुन: उत्थान का चित्र है। इसी सास्कृति पृष्ठभूमि के साथ ही इस नाटक में कहीं-कहीं, विवेक के कथनों में दार्शनिक पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत की गई है। इस दर्शन का मूल आधार प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन है। आद्यन्त इसी को व्यक्त किया गया है।

---

१. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ७५

२. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास : पृ० २३८

वस्तु-तत्व---भौतिक जीवन तथा संसार के छल-प्रपंच से अनभिज्ञ समुद्र के तट पर एक छोटा सा फूलों का द्वीप है। इस द्वीप के निवासी अपने को एक जाति का मान कर इस धरती पर खेल खेलने के लिए आए हैं । ये अपने को तारा की सन्तान मानते है। इस द्वीप में न कोई राजा है, न कोई प्रजा, न कोई विकार, न कोई अपराध और न कोई शासन-व्यवस्था। सभी लोग धर्म से परिचालित होते हैं पाप-पुण्य, राग-द्वेष आदि मानवीय विकारों से रहित है। प्रकृति ही उनके लिए अमोघ शक्ति है। पक्षियों से वे ईश्वरीय सन्देश सुनकर उनका पालन करते है। इस द्वीप में केवल उपासना करने के लिए ही कुछ समय के लिए किसी व्यक्ति को नेतृत्व प्रदान किया जाता है। इसी द्वीप की एक कुमारी कामना को उपासना का नेतृत्व दिया जाता है। कामना के हृदय में असन्तोष तथा कुछ और पाने की लालसा का जन्म होता है जिसके कारण वह सन्तोष से परिणय करने में अनुत्साहित है। समुद्र के तट पर बैठी वह अपने मन में होने वाले परिवर्तन पर विचार कर रही है। इसी समय उसे दूर से आती वंशी की ध्वनि सुनाई पड़ती है। एक नाव में अत्यन्त चमकीले वस्त्रों से सज्जित युवक तट पर आता है। युवक के अद्भुत आकर्षक व्यक्तित्व को देखकर कामना आत्म-समर्पण कर देती है।

कामना युवक विलास पर मुग्ध होकर अपने द्वीप में उसका स्वागत करती है। विलास अपने देश से कुकर्मों के कारण निष्कासित किया गया है। विलास का उद्देश्य द्वीप में अनाचार, अत्याचार तथा अपराधों को फैलाकर भोले-भाले द्वीपनिवासियों को अपने राजतन्त्र में लाना है। अपने इस उददेश्य की पूर्ति के लिए वह द्वीप में स्वर्ण तथा मदिरा के प्रचार की योजना बनाता है।

कामना के अतिरिक्त उल्लेखनीय पात्रों में सन्तोष, लीला, विनोद, लालसा तथा विवेक हैं। विलास अपनी पूर्व योजना के अनुरूप पहले कामना पर स्वर्ण तथा मदिरा का प्रभाव डालकर उसके प्राकृतिक चरित्र को परिवर्तित करता है और फिर लीला, लालसा तथा विनोद आदि का। कामना के स्वर्णभूषणों को देखकर उन्हें लेने के लिए लीला भी प्रयत्नशील होती है । मदिरा के प्रचार में विनोद मुख्य सहायक बनता है। सारा द्वीप स्वर्ण तथा मदिरा को ही जीवन का लक्ष्य मानकर विलास तथा कामना का अनुगमन करने लगता है। सन्तोष तथा विवेक उसका विरोध करते हैं, किन्तु उनकी वाणी का कोई प्रभाव नही पड़ता। विलास सभी द्वीपवासियों को स्वर्ण तथा मदिरा के प्रभाव के कारण अपने वश मे लाकर कामना को रानी पद पर अधिष्ठित कर देता है। विलास कामना पर अनुरक्त होते हुए भी उससे विवाह नहीं करना चाहता। वह एक ऐसी नारी चाहता है जिसमें गति हो, जीवन का उष्ण स्पन्दन हो। क्रमशः विलास लालसा को अपना लक्ष्य मानकर उसकी ओर आकृष्ट होता है।

स्वर्ण की प्राप्ति के लिए द्वीप-निवासी इस सीमा तक उत्तेजित तथा उन्मत्त हो जाता है कि चोरी तथा हत्या आदि अपराध भी करने लगते हैं। लालसा के पति शान्तिदेव, जो कि समुद्र-पार से स्वर्ण लाता है, कुछ व्यक्ति स्वर्ण लेने के लिए उसकी

हत्या कर देते है। हत्यारों को पकड़ कर बन्दीगृह में रखा जाता है और यही से दण्ड-व्यवस्था प्रारम्भ होती है।

इधर लालसा अपने लिए प्रेमी को खोजती है। विलास तथा लालसा दोनों एक-दूसरे पर अनुरक्त होते हैं। विनोद इसे विवाह द्वारा स्थायी रूप दे देता है। इधर कामना अपने स्वप्नों के महलों को ढहता देख अत्यन्त निराश हो जाती है। लालसा तथा विलास मिलकर प्रचुर मात्रा मे स्वर्ण-प्राप्ति की आशा से निकटवर्ती प्रदेश पर आक्रमण कर देते है। युद्ध मे विलास विजयी होता है। विलास शत्रु-पक्ष की स्त्री को पकड़कर ले आता है। कामना इसका विरोध करती है। लालसा भी शत्रु-सैनिक के साथ प्रेम करना चाहती है, किन्तु तिरस्कृत होती है।

युद्ध के कारण सम्पूर्ण द्वीप में हाहाकार मच जाता है। नित्य नए अपराधो, अनाचारो से तंग आकर कामना रानी पद के स्वर्ण मुकुट को उतारकर फेक देती है। विनोद तथा लीला भी उसका अनुकरण करते है। विवेक कामना को इस अवसर पर सान्त्वना देता है। सभी द्वीपवासी विलास तथा लालसा को द्वीप से निष्कासित कर सम्पूर्ण स्वर्ण को समुद्र मे फेक देते हैं। स्वर्ण-भार से नाव डगमगाने लगती है। संतोष तथा कामना का अन्ततः मिलन होता है।

कथानक का चुनाव यद्यपि इतिहास की किसी घटना से नही किया गया है, तथापि आरम्भ में 'ईशोपनिषद्' तथा 'महाभारत' के जो उद्धरण दिए गए है उससे अवश्य ही कथानक में सांस्कृतिक पृष्ठाधार जुड़ जाता है। शास्त्रीय दृष्टि से कथानक का चयन तथा निर्माण जिस रूप में हुआ है, वह 'उत्पाद्य' कथा के अन्तर्गत ही होगा। वस्तु-विन्यास की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि प्रतीकात्मक नाटक होने के कारण इसमे स्थूल कथा के साथ ही प्रतीकों के माध्यम से अन्य सूक्ष्म कथानक में प्रत्येक स्थल पर सम्बन्ध-स्थापन रूपक की भाँति नहीं होता है। साथ ही जो कथा प्रस्तुत की गई है वह सास्कृतिक अथवा दार्शनिक पृष्ठभूमि को भी अपने साथ लेकर चलती है। 'कामना' में कामना, विलास, लीला, विनोद, लालसा, विवेक वास्तव में वृत्तियाँ हैं जिन्हें मानवीय रूप में प्रस्तुत किया गया है। स्थूल कथा आरम्भ मे दी गई है। यहाँ सूक्ष्म कथा को संक्षेप में स्तुत किया गया है। वृत्तियों तथा मुख्य उद्देश्य की दृष्टि से नाट्यकार का मुख्य प्रतिपाद्य है कि विलासोन्मुखी कामना को कदापि शांति नही मिल सकती। विवेक और सन्तोष से सुनियंत्रित कामना ही अनन्ततः सुखी और सम्पन्न हो सकती है। कामना में सहज भाव से ही सन्तोष के साथ मैत्री नहीं हो पाती। विलास कामना को नए-नए उपकरण देकर उसके दृष्टि-पथ को और भी विस्तृत करता है। विनोद तथा लीला दोनों ही कामना के सजातीय गुणों वाले होने के कारण उससे सम्बद्ध है। विवेक कामना को संकुचित धरातल पर लाने का प्रयत्न करता है, परन्तु असफल होता है। विलास के साथ सम्बद्ध होने के कारण कामना नया रूप धारण करती है। अतृप्ति तथा असन्तोष की पूर्ति के लिए वह विलास के साथ पतनोन्मुखी होती है। परन्तु पतन की चरम सीमा पर पहुँचकर

कामना इस धरातल पर खड़ी अनुभव करती है, जिसमें उसका अपना स्थान अत्यन्त गौण प्रतीत होता है। विलासी प्रवृत्ति से ऊब कर कामना पुनः अपने सहज व्यक्तित्व को पाने के लिए सन्तोष तथा विवेक के आश्रय में जाती है। इस प्रकार प्रतीकात्मक नाटक के आधार पर 'कामना' का कथानक अत्यन्त सफल है।

कथानक के रचनातंत्र में भारतीय तथा पश्चिमी स्वच्छन्दतावादी तत्त्वों को स्थान दिया गया है। भारतीय नाट्य-पद्धति के अनुरूप 'कामना' का कुछ कथांश 'सूच्य' के अन्तर्गत आता है। कामना का विलास को अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पूर्व घटना की सूचना देना, कामना द्वारा भविष्य में किसी अमंगलकारी घटना के घटित होने की पूर्व सूचना देना, विलास के अतीत जीवन-सम्बन्धी घटनाओं की सूचना, इसी अंश के अन्तर्गत आती हैं।

'कामना' के कथानक का निर्माण इस प्रकार किया गया है कि पहले सभी प्रमुख पात्रों (संतोष तथा विवेक को छोड़कर) में चारित्रिक पतन दिखाया गया है और पतन की चरम सीमा पर पहुँचाकर उनका उद्धार कराया गया है। इस प्रक्रिया में कामना का स्वर्णपट्ट उतारकर रानी पद से मुक्त होना प्रथम चरण है। इसी के अनुकरण पर विनोद तथा लीला का भी स्वर्ण-त्याग तथा अन्त मे सामूहिक रूप मे विलास का विरोध दिखाकर सभी पात्रों को प्रकृत रूप में उपस्थित किया गया है। 'कामना' इस प्रकार भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप सुखान्त रचना मानी गई है।

पात्र तथा चरित्र चित्रण - प्रतीकात्मक नाटक होने के कारण कामना के सभी पात्र प्रतीक रूप में आए है। कामना, विलास, सन्तोष, लीला, विनोद, लालसा, विवेक सभी वास्तव में हमारी अन्तर्वृ तियाँ है। इस नाटक के चरित्रांकन की यह विशेषता है कि इसमे वृत्तियों को मासल व्यक्तित्व देकर, पात्रों के रूप मे उनका चरित्रांकन किया गया है। किन्तु इसमें कुछ ऐसे पात्र भी हैं, जिनका स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं है अथवा उनका चरित्रांकन वृत्ति की चौहद्दी से बाहर निकलकर नही किया गया है। इन पात्रों में सन्तोष तथा विवेक ऐसे पात्र है, जिनमे वृत्ति की विशेषता अधिक है, स्वतंत्र व्यक्तित्व की सजीवता कम। सम्भवतः इसी को ध्यान में रखते हुए डॉ० ओझा ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि "सफल चरित्र-चित्रण नही है।"[१] डॉ० ओझा का यह मत कामना, विलास तथा लालसा पर अधिक लागू नहीं होता। कामना, विलास तथा लालसा के चरित्र में काफी सहजता है। इनके चरित्र में मानवीय यथार्थता पाई जाती है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में हम कह सकते हैं कि "कामना के पात्र सभी प्रतीक हैं, फिर भी उनकी रेखाएँ अस्पष्ट नहीं है।"[२]

कामना—कामना इस नाटक की प्रधान पात्र है तथा शास्त्रीय शब्दावली में वह नायिका पद की अधिकारिणी है। समस्त कथानक के मूल में कामना ही है, जिससे

---

१. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २४१
२. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ७६

दूसरे पात्र जुड़े हुए हैं। कामना के चरित्र में स्थिरता नहीं, चंचलता है। अपनी स्वाभाविक वृत्ति के अनुरूप वह इच्छाओं से परिचालित तथा द्वन्द्वों से आपूर्ण है। इसलिए वह सन्तोष को जीवना साथी बनाने में संकोच का अनुभव करती है—

"सन्तोष! हृदय के समीप होने पर भी दूर है, सुन्दर हैं, केवल आलस के विश्राम का स्वप्न दिखाता है। परन्तु अकर्मण्य सन्तोष से मेरी पटेगी? नहीं! इस समुद्र में इतना हाहाकार क्यों है?"[1]

वास्तव में कामना मे यौवनजन्य उद्दाम वासना तथा कुछ प्राप्त करने की गहरी चाह है। इसीलिए वह अपने वर्तमान से सन्तुष्ट नही। कामना का चरित्र मानवीय दुर्बलताओं का चरित्र हैं। ऐश्वर्य तथा वैभव के सम्मुख सहज नारी भाव से वह झुक जाती है। विलास के स्वर्णपट्ट तथा आकर्षक व्यक्तित्व को देखते ही उसमें आत्मसमर्पण का भाव जागृत होता है:

"—है, यह कौन! मै क्यों झुकी जा रही हूँ? और, सिर पर इसके क्या चमक रहा है, जो इसे बड़ा प्रभावशाली बनाए है। इसका व्यक्तित्व ऐसा है कि मैं इसके सामने अपने को तुच्छ बना दूँ, और अपने को समर्पित कर दूँ।"[2]

प्रतीकात्मक नाटक होने के कारण कामना के चरित्र में दोहरा व्यक्तित्व है। पात्र के रूप मे कामना में कहीं-कहीं आधुनिक बुद्धिवाद भी मिलता है। इसका कारण है 'प्रसादजी' पर बुद्धिवाद का प्रभाव। डॉ० विश्वनाथ मिश्र के शब्दों में "पाश्चात्य वैज्ञानिक बुद्धिवाद का भी प्रभाव प्रसाद की इस रचना पर है।"[3] आधुनिक बुद्धिवादी नारी की भाँति ही कामना अपने जीवन साथी को चुनने मे पूर्ण स्वतन्त्रता का अनुभव करती है। सूक्ष्म वृत्ति की दृष्टि से विचार करने पर कहा जा सकता है कि कामना का पहले विलास की ओर झुकाव होना अत्यन्त स्वाभाविक है, तथा सन्तोष से विरक्त होना अत्यन्त आवश्यक। कामना अपने लिए नित्य नये विलास तथा भोग के उपकरण चाहती है, उसी के अनुरूप कामना विलास के साथ शीघ्र ही सम्बद्ध होकर निरन्तर विलासयुक्त होने के कारण पतनोन्मुख भी होती है। पहले वह द्वीप की रानी बनती है, अर्थात् अन्य वृत्तियों पर आधिपत्य करती है तथा आगे चलकर हिंसात्मक कार्य करती है। विवेक तथा सन्तोष से हीन कामना दु:ख-ही-दु:ख उठाती है। परन्तु अन्त में कामना के चरित्र में परिवर्तन होता है। वह विलास का परित्याग कर सन्तोष से परिणय करती है।

विलास—इस नाटक मे घटनाओं की दृष्टि से कामना के उपरान्त विलास ही प्रमुख पात्र है। सभी घटनाओं के मूल में प्रायः वही है। विलास के चरित्र में भी मांसलता होने के कारण दोहरा व्यक्तित्व है। अपने देश की दरिद्रता से विताड़ित

---

१. जयशंकर प्रसाद : कामना : पहला अङ्क : पहला दृश्य : पृ० ७

२. जयशंकर प्रसाद : कामना : पहला अङ्क : पहला दृश्य : पृ० ११

३. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २३१

तथा अपने कुकर्मो से अपने देश से निष्कासित युवक विलास फूलों के द्वीप मे आकर अपने चमकीले स्वर्णपट्ट के कारण कामना जैसी भोली-भाली युवती को आकर्षण-पाश मे बाँध लेता है। द्वीप में आकर छल-रहित प्राकृतिक जीवन व्यतीत करने वाली जाति को वह भिन्न-भिन्न प्रकार के अपराध सिखाकर उनपर शासन करने का निश्चय करता है। अपनी प्रकृति के अनुरूप ही वह अपने व्यक्तित्व का विकास करने तथा उद्देश्य की पूर्ति के लिए द्वीप के निवासियों में अपराधजनक स्वर्ण तथा मदिरा का प्रचार करता है।

स्थूल रूप से विलास के चरित्र में आधुनिक बुद्धिवादी नाटकों मे पाया जाने वाला तर्क-वितर्क मिलता है। अपनी इसी बुद्धिवादी प्रवृत्ति के आधार पर वह कामना के साथ-ही-साथ द्वीपवासियों को भी छलता है। कामना विलास से विवाह करना चाहती है, किन्तु वह अत्यन्त चतुराई से इस स्थिति को टाल देता है :

"परन्तु अब तो तुम इस द्वीप की रानी हो। रानी को क्या ब्याह करके किसी बन्धन मे पड़ना चाहिए ?"[१]

प्रसादजी पर इस नाटक में भी स्वच्छन्दतावादी नाट्यकला का प्रभाव पड़ा है। विलास के चरित्र मे जो विचारात्मकता, चिन्तन-मनन की प्रवृत्ति मिलती है, यह इसी प्रभाव के कारण है। दूसरे अङ्क के चौथे दृश्य में विलास का निम्न कथन इसका परिचायक है :

"परन्तु सब करके क्या किया ? अपने शाप-ग्रस्त और संघर्षपूर्ण देश की अत्याचार-ज्वाला से दग्ध होकर निकला। यहाँ शीतल छाया मिली; मैंने क्या किया ?"[२]

वृत्ति की दृष्टि से विलास के चरित्र में आत्म-प्रसार की भावना मिलती है। विलास का विकास लालसा से अधिक हो सकता है, कामना से कम। इसी कारण नाट्यकार ने अन्त में विलास तथा लालसा को एकमेक कर दिया है। विलास की सहायिका महत्त्वाकांक्षा है, जो इस नाटक में विद्यमान है। समग्र रूप से देखने पर कहा जा सकता है कि विलास के चरित्र की रेखाएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं।

सन्तोष—जिस प्रकार की मांसलता पूर्व रूप कामना तथा विलास के चरित्र में मिलती है, वह सन्तोष के चरित्र में नही मिलती। सन्तोष के चरित्र में वृद्धि के अनुरूप ही इच्छाओं की एक सीमा है तथा अपनी अवस्था से सन्तुष्टि का भाव है। कामना से विव ह के प्रश्न पर वह कहता है :

"मैं सन्तुष्ट हूँ—मुझे ब्याह की आवश्यकता नहीं।"

द्वीप में जो कुछ अनाचार हो रहा है, सन्तोष उससे अवगत होते हुए भी अकर्मण्य ही रहता है। केवल परिस्थिति पर विचार करता है। तीसरे अङ्क में सन्तोष

---

१. जयशंकर प्रसाद : कामना : दूसरा अङ्क : पहला दृश्य : पृ० ३७

२. जययंकर प्रसाद : कामना : दूसरा अङ्क : चौथा दृश्य : पृ० ४५

के व्यक्तित्व में थोड़ी-बहुत क्रियान्विति आई है। विलास द्वारा परित्यक्ता कामना के सम्मुख वह प्रेम की अभिव्यक्ति करता है :

"जब हृदय ने पराभव स्वीकार करके विजय-माला तुम्हें पहना दी और तुम्हारे कपोलों पर उत्साह की लहर खेल रही थी, उसी समय तुमने ठोकर लगाकर मेरी सुन्दर कल्पना को स्वप्न कर दिया।"[१]

किन्तु इस प्रकार का रूप केवल इसी स्थल पर है। अन्यत्र सन्तोष वृत्ति के वैशिष्ट्य से ही परिचालित है।

संवाद-योजना

प्रतीकात्मक नाटक की संवाद-योजना निश्चित रूप से अन्य नाटकों से भिन्न होती है। इसमें स्वाभाविकता के स्थान पर कहीं-कहीं उपदेशात्मकता भी मिलती है। किन्तु 'कामना' के संवादों में उपदेशात्मकता बहुत कम है, अधिकांश में संवाद स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त है।

स्वगत-कथन का प्रयोग कहीं तो केवल रूढ़ि का पालन करने के लिए किया गया है और किसी स्थल पर मानसिक संघर्ष को प्रस्तुत करने के लिए। स्वगत के प्रयोग से यह स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है कि 'प्रसादजी' पर भारतीय नाट्य-विधान का प्रभाव अभी शेष है। पहले अङ्क के पहले दृश्य मे कामना का स्वगत-कथन भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप है तथा दूसरे अङ्क के चौथे दृश्य में विलास का स्वगत-कथन 'कामना एक सुन्दर रानी होने के योग्य प्रभावशालिनी स्त्री है' उसकी मानसिक अवस्था पर प्रकाश डालता है।

प्रतीकात्मक नाटकों की उपदेशात्मकता यहाँ भी मिलती है। ऐसे स्थलों पर संवाद अपना स्वाभाविक सौन्दर्य खोकर सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते ही जान पड़ते हैं। पहले प्रङ्क के चौथे दृश्य में लीला और वनलक्ष्मी का संवाद नाटकीय दृष्टि से बोझिल होते हुए भी नाटककार के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है :

"वनलक्ष्मी : अच्छी वस्तु तो उतनी ही है, जितनी की स्वाभाविक आवश्यकता है। तुम क्यों व्यर्थ अभावों की सृष्टि करके जीवन को जटिल बना रही हो ?"[२]

कहीं-कहीं संवाद अत्यन्त दीर्घकाय हो गए हैं। इस प्रकार के स्थल नाटक में अनेक हैं। पहले अङ्क को छठे दृश्य में विवेक का कथन "पिता ! पिता ! हम डरेंगे, तुमसे काँपेंगे ?" सर्वाधिक दीर्घकाय कथन है। वास्तव में कला की दृष्टि से इस प्रकार के कथन, नाटक मे गति-अवरोधक ही सिद्ध होते हैं। 'कामना' के संवादों में दार्शनिक चिन्तन भी अभिव्यक्त हुआ है। करुणा का निम्न कथन इसी को स्पष्ट करता है :

---

१. जयशंकर प्रसाद : कामना : तीसरा अङ्क : दूसरा दृश्य : पृ० १६-२०

२. जयशंकर प्रसाद : कामना : पहला अङ्क : चौथा दृश्य : पृ० ६८

"मानव-जीवन में कभी पतझड़ है, कभी वसन्त। वह स्वयं कभी पत्रियाँ झाड़कर एकान्त का सुख लेता है, कोलाहल से भागता है, और कभी-कभी फल-फूलों से लदकर नोचा-खसोटा जाता है।[१]"

भाषा-शैली

अन्य नाटकों के समान ही 'कामना' की शैली काव्यात्मक है। परिनिष्ठित तथा अलंकृत भाषा का प्रयोग किया गया है। शैली की काव्यात्मकता का उदाहरण निम्न कथन से स्पष्ट होता है :

"ये हरे-भरे खेत, छोटी-छोटी पहाड़ियों से ढुलकते-मचलते हुए झरने, फूलों से लदे हुए वृक्षों की पंक्ति, भोली गउओं और उनके प्यारे बच्चों के झुण्ड......' कहाँ मिलेंगे।"[२]

भाषा का स्वरूप यद्यपि एक ही प्रकार का है, तथापि पात्र के बदलने से भाषा का स्वरूप भी बदल ही गया है। विवेक की भाषा चिन्तन के क्षणों में गहन एवं विचारात्मक है तथा सामान्य व्यवहार के स्थल पर उसी के अनुरूप सरल तथा सहज। समग्र रूप से भाषा का स्वरूप प्रौढ़ है।

गीत-विधान

कामना में कुल मिलाकर नौ गीत है। कामना, लीला, लालसा तथा विलास के साथ अन्य पात्रों के गीतों में भाव की दृष्टि से वैविध्य नहीं मिलता। केवल वन-लक्ष्मी का गीत 'पृथ्वी की श्यामल पुलकों में सात्विक स्वेद-बिंदु रंगीन' तथा अन्तिम भरतवाक्य सदृश समवेत स्वर में 'खेल लो नाथ, विश्व का खेल' मंगलात्मक गीत हैं। शेष गीतों के गायकों में चाहे वैविध्य रहा है, परन्तु विषय की दृष्टि से सभी गीतों में प्रेम और यौवन का ही चित्र मिलता है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में "लालसा के गीतों में यौवन की उष्ण गन्ध है।"[३] वास्तव में सभी गीतों में कोमलता है। गीतों के रचना-तन्त्र की दृष्टि से देखने पर तीसरे अंक के दूसरे दृश्य में एक ऐसा गीत है, जिसे कामना तथा उसकी सखियों ने इस रूप में गाया है कि इसकी एक पंक्ति कामना गाती है और इसी प्रकार दूसरी तथा तीसरी पंक्ति को क्रमशः दूसरी तथा तीसरी सखी। वास्तव में "प्रसाद के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य में इस प्रकार कई गायकों द्वारा आंशिक रूप में गाया जाने वाला यही एक गान है।"[४]

रस—इसमें मुख्य-रूप से श्रृंगार रस अभिव्यक्त हुआ है। किन्तु विवेक, करुणा तथा सन्तोष के कथनों से जीवन के प्रति व्यवस्थित दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया

---

१. जयशंकर प्रसाद : कामना : दूसरा अंक : सातवाँ दृश्य : पृ० ५६
२. वही : पहला अङ्क : पहला दृश्य : पृ० ९
३. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० ७९
४. डॉ० दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : पृ० २७५

गया है। शृंगार रस के अन्तर्गत कामना तथा विलास परस्पर आश्रय तथा आलम्बन हैं। कामना तथा विलास का परस्पर मिलन, विलास द्वारा कामना के गीतों की प्रशंसा करना उद्दीपन के अन्तर्गत आता है तथा कामना द्वारा विलास का हाथ पकड़ना इत्यादि के अन्तर्गत आता है।

रूप-विधान

प्रसादजी ने इस नाटक में भारतीय नाट्य-विधान के साथ ही पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद को भी ग्रहण किया है। वातावरण के निर्माण में रोमांटिक दृष्टिकोण के कारण स्वच्छन्दतावादी उपकरणों का उपयोग किया गया है। भारतीय पद्धति के विपरीत इसका प्रारम्भ पाश्चात्य नाट्य-विधान के आधार पर प्रधान पात्र के चरित्रांकन से हुआ है। कहीं-कहीं त्रासदी के अनुरूप ही भय तथा करुणा की सृष्टि भी की गई है। दूसरे अंक के पहले दृश्य में पशुओं की हत्या तथा इसी प्रकार कथा-क्रम में शान्तिदेव की हत्या पाश्चात्य विधान के अनुरूप ही दिखाई गई है। कथानक में जो थोड़ा-बहुत संघर्ष का भाव है, वह भी पाश्चात्य विधान के कारण है। डॉ० विश्वनाथ मिश्र का इस सम्बन्ध में कथन है कि "कामना की रचना-शैली में भी पाश्चात्य नाट्य-तत्त्वों का ग्रहण है। कथावस्तु में संघर्ष की, पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी नाटकों के अनुरूप, विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण है।"[1] 'कामना' की रचना प्रतीकात्मक नाट्य-शिल्प के आधार पर भी हुई है। प्रतीकात्मक नाटक के अनुरूप ही प्रसादजी ने इसमें विभिन्न वनोवृत्तियों को मानवीय पात्रों के रूप में ग्रहण किया है। फूलों का द्वीप प्राकृतिक जीवन का प्रतीक है। अन्य वृत्तियों का प्रतीक तत्त्व अत्यन्त स्पष्ट है।

'कामना' वास्तव में भारतीय जीवन-दर्शन तथा नाट्य-विधान के अनुरूप एक सुखान्त रचना है। भारतीय जीवन-दर्शन में जो आदर्शवादी भावना है, असत् पर सत् की विजय है, वही इस नाटक के अन्त में मिलती है। नाटक के अन्त भरत-वाक्य के समान ही एक मंगल गान भी रखा गया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि शिल्प की सीमाओं को देखते हुए 'कामना' अपने आप में एक अत्यन्त सफल रचना है।

●

---

१. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २३५

: ७ :

एकांकी-नाटक

एक घूँट

नाट्य-शिल्प के आधार पर 'एक घूँट' आधुनिक एकांकी नाटक के शिल्प को आधार बनाकर रचा गया है। प्रायः कुछ आलोचकों ने हिन्दी एकांकी का प्रारम्भ 'एक घूँट' से स्वीकार किया है। 'एक घूँट' वास्तव में विचार-प्रधान एवं बौद्धिक कृति है। इस कृति में प्रसादजी ने एक समस्या उठाई है: स्वच्छन्द रूप से प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम किया जाना चाहिए या किसी एक व्यक्ति से। दूसरे शब्दों में स्वच्छन्द प्रेम जीवन का लक्ष्य है अथवा व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध प्रेम-भाव ? इसी समस्या को आधार बनाकर 'एक घूँट' की रचना की गई है। शिल्प की दृष्टि से यद्यपि यह आधुनिक एकांकी के शिल्प को आधार बनाकर चला है, तथापि इस रचना पर स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का भी प्रभाव है। संस्कृत नाट्य-शिल्प भी किसी सीमा तक ग्रहण किया गया है। इसी को ध्यान में रखकर डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि "हिन्दी-एकाकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूँट' से ही हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है इसलिए वे हिन्दी एकांकी के जन्मदाता नही कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं। एकांकी की टेकनीक का 'एक घूँट' में पूरा निर्वाह है।"[१]

किन्तु इसके विपरीत कुछ विद्वानों ने इसके शिल्प पर शंका व्यक्त की है। डॉ० शर्मा ने इसे इसे संवादात्मक निबन्ध माना है।[२] वास्तव में इस नाटक पर जो बौद्धिकता की गहरी छाप लगी हुई है, उसी के कारण यह नाटक यथार्थवादी नाटकों के रचनाशिल्प से सर्वाधिक प्रभावित प्रतीत होता है।

वस्तु-तत्त्व

अरुणाचल के समीप कुछ लोगों ने एक आश्रम बनाया है, जिसमें जीवन की विडम्बना नहीं। छोटे-छोटे परिवारों ने अपने लिए सुन्दर घर बना लिए हैं। इनके जीवन का आदर्श है: सरलता, स्वास्थ्य और सौन्दर्य। इनका जीवन नागरिक और ग्रामीण जीवन की मानो सन्धि है। इस आश्रम का मन्त्री कुँज है। अन्य लोगों में कवि रसाल और उसकी पत्नी वनलता, मुकुल और उकी दूर सम्बन्ध में बहन प्रेमलता

---

१. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ॰ १३२

२. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २०५

तथा एक साधारण शिक्षित व्यक्ति झाड़ूवाला है। आनन्द इस आश्रम में अतिथि होकर मुकुल के यहाँ ठहरता है। कथानक वनलता से प्रारम्भ होता है। मौलश्री के नीचे बैठी हुई वनलता अनसुने भाव से नेपथ्य के संगीत को सुनती है। कोकिल की कूक को सुनकर उसकी अपनी व्यथा जाग पड़ती है। वह अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार कर पति से न मिलने वाले प्रेम पर व्यथा की अभिव्यक्ति करती है। इतने में रसाल आकर उसके नेत्रों को अपने हाथों में मूँद लेता है। वनलता के जीवन में यह एक अप्रत्याशित घटना है। इसीलिए वह अपने पति को पहचान नहीं पाती।

रसाल और वनलता के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जाता है कि रसाल एक भावुक तथा अपने में मग्न रहने वाला व्यक्ति है और वनलता अपने वैवाहिक जीवन से प्रसन्न नही है। आनन्द के आगमन के उपलक्ष मे रसाल का व्याख्यान होने वाला है, इसीलिए वह वनलता को बुलाने आया है।

इधर आनन्द, प्रेमलता तथा मुकुल वार्तालाप करते हुए सामने आते हैं। आनन्द स्वच्छन्द प्रेम का प्रचारक होने के कारण एकनिष्ठ प्रेम का विरोध करते हुए कहता है कि कि स्वच्छन्द होने से ही जीवन को वास्तव में प्राप्त किया जा सकता है। एकनिष्ठ होने में एक बन्धन है, जिससे प्रेम का स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा सरलता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार बौद्धिक धरातल पर आनन्द स्वच्छन्द प्रेम को आदर्श प्रेम सिद्ध कर देता है। मुकुल तथा प्रेमलता व्यक्तिनिष्ठ प्रेम की बात करते हैं, परन्तु आनन्द के तर्क के सामने अधिक ठहर नहीं पाते।

आनन्द के आनन्दवादी सिद्धान्त को वनलता स्वीकार न कर उसका प्रतिकार करती है। वनलता पेट की भूख से हृदय की भूख को अधिक महत्त्व देती है। आनन्द वनलता के इस तर्क का कोई उचित उत्तर नहीं दे पाता। आगे चल कर आनन्द के सन्देश के सम्बन्ध में रसाल आनन्द के सन्देश का आदर्श सन्देश मानकर आश्रमवासियों को उसका पालन करने का परामर्श देता है। वनलता इसका प्रतिकार करती है। वनलता जो कुछ कहती है उसका यही आशय है कि प्रेम में आदान-प्रदान के साथ ही एक उपासना का केन्द्र भी होना चाहिए।

शुष्क तर्क-वितर्क को कुछ हल्का करने के लिए इतने में चन्दुला विदूषक आता है। वह भी अपनी बातों से आनन्द के स्वच्छन्द प्रेम का विरोध ही करता है। इस प्रकार झाड़ूवाला अपनी पत्नी के साथ झगड़ा करता हुआ आता है। इन दोनों के माध्यम से पारिवारिक तथा यथार्थ जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है। इनको देखकर वनलता विह्वल हो जाती है। वह जीवन में इस प्रकार का यथार्थमूलक परिवार चाहती है, जिसे उसका अभाव है। आनन्द वनलता की व्यथा को समझकर उससे सहानुभूति प्रकट करता है। आनन्द वनलता से प्रेम करने की अनुमति माँगता है, परन्तु वनलता आनन्द का तिरस्कार करती है। वनलता के आन्तरिक अनुराग को देखकर रसाल अपनी भूल स्वीकार कर वनलता का हाथ पकड़ लेता है।

आनन्द को अपने सैद्धान्कि विचारों में निस्सारता दिखाई देने लगती है। वह

भी वनलता के एकनिष्ठ प्रेम में ही जीवन के वास्तविक रूप को अनुभव करता है। इतने में प्रेमलता शर्बत लेकर वहाँ उपस्थित होती है। प्रेमलता के मुख पर अनुराग की लाली को देखकर आनन्द वास्तविक प्रेम के महत्त्व तथा आकर्षण में अपने सैद्धान्तिक व्यक्तित्व का विलय कर देता है।

'एक घूंट' का कथानक कल्पित है, अतः यह कथानक भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप 'उत्पाद्य' के अन्तर्गत आता है। एकांकी-कला की दृष्टि से भी कथानक का चुनाव किसी भी क्षेत्र से किया जा सकता है। फल की दृष्टि से इस एकांकी में स्वच्छन्द प्रेम पर एकनिष्ठ प्रेम की विजय दिखाना ही एकांकीकार का उद्देश्य प्रतीत होता है। डॉ० शर्मा ने इस फल-प्राप्ति की कामना वनलता में मानी है। उनका कथन है "फल-प्राप्ति की कामना वनलता में उत्पन्न होती है। वह विचार कर रही है 'आकर्षण किसी को बाहुपाश में जकड़ने के लिए प्रेरित कर रहा है।' इसी अभिलाषा-पूर्ति का आयोजन संपूर्ण रचना मे हुआ है और अंत में इसी फल की प्राप्ति वनलता को होती है।"[१]

भारतीय नाट्य-विधान के अनुसार इस प्रकार वनलता तथा रसाल की कथा ही आधिकारिक कथा है। इसके साथ ही आनन्द तथा प्रेमलता की कथा भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है।

कथानक का विकास भारतीय ढंग पर नहीं हुआ। 'एक घूंट' में कथानक का विन्यास यद्यपि आधुनिक एकांकी के शिल्प के आधार पर ही हुआ है तथापि चन्दुला विदूषक का कथानक प्रसादजी ने भारतीय नाट्य-विधान के आधार पर ही रखा है। झाड़ूवाला तथा उसकी पत्नी के माध्यम से गृहस्थ्य धर्म तथा प्रेम की एकनिष्ठता दिखला करके वनलता और रसाल के जीवन से विषम विरोध प्रकट किया गया है।

एकांकी के शिल्प की दृष्टि से इसका विन्यास किया गया है। इसमें कार्य-व्यापार की सघनता के लिए मुख्य रूप से एक ही कथानक रखा गया है। साथ ही, उद्देश्य की दृष्टि से भी इसका विन्यास इस रूप में किया गया है कि सम्पूर्ण कथानक में स्वच्छन्द प्रेम का विरोध किया गया है प्रारम्भ में ही उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए वनलता की अतृप्त अवस्था का चित्र खींचा गया है। कथानक का विकास एकांकी के शिल्प के अनुरूप तीन सोपानों—प्रारम्भ, विकास और चरमसीमा—में हुआ है। प्रारम्भ में संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है। इस संघर्ष को प्रस्तुत करने के लिए दो विरोधी पक्ष सामने आते हैं—एक ओर स्वच्छन्द प्रेम के प्रचारक तथा उपासक आनन्द तथा रसाल हैं, और दूसरी ओर एकनिष्ठ प्रेम को स्वीकार करने वालों में वनलता तथा प्रेमलता हैं। इन दो विरोधी संघर्षमूलक भावनाओं को प्रसादजी ने बौद्धिक धरातल पर प्रस्तुत किया है। कथानक तर्क-वितर्क के द्वारा विकसित होता जाता है। संघर्ष का विकास वहीं से शुरू हो जाता है जहाँ आनन्द, प्रेमलता तथा वनलता

---

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २०७

इस पर गहन विचार शुरू कर देते हैं। इस संघर्ष का चरमोत्कर्ष तथा अन्त एक साथ घटित हुए हैं आनन्द द्वारा वनलता से प्रेम करने की अनुमति माँगना संघर्ष का चरमोत्कर्ष है तथा उसी के कुछ क्षण बाद आनन्द की निम्न स्वीकारोक्ति संघर्ष के अन्त की सूचक है :

"मेरा भ्रम मुझे दिखला दिया। मेरे कल्पित संदेश में सत्य का कितना अंश था, उसे अलग झलका दिया। मैं प्रेम का अर्थ समझ सका हूँ। आज मेरे मस्तिष्क के साथ हृदय का जैसे मेल हो गया है।"[1]

इस एकांकी में प्रसादजी ने कथात्मकता की अपेक्षा विचारात्मकता पर अधिक बल दिया है। अन्य नाटकीयता भी अधिक नहीं है। सम्पूर्ण एकांकी में संवादों के माध्यम से ही कथा का विकास किया गया है। डॉ० सिद्धनाथकुमार ने यह सत्य ही लिखा है कि "नाटक में कार्य-व्यापार का अभाव है। घटनाएँ बहुत कम हैं, और जो हैं, उनकी गति भी सरल और अनाटकीय है।"[2]

इसके कथानक में जो संघर्ष है, वह मूलत: बौद्धिक है। समस्या-नाटक में जिस प्रकार दो दल गोष्ठी के रूप में बौद्धिक धरातल पर समस्या के पक्ष-विपक्ष पर विचार प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार 'एक घूँट' में भी बौद्धिकता मिलती है। स्वच्छन्द प्रेम तथा एकनिष्ठ प्रेम पर जो तर्क दिए जाते हैं, वे भावात्मक नहीं हैं। इसी कारण डॉ० मिश्र का यह कथन है कि "प्रसादजी की यह रचना 'एक घूँट' अपने बाहरी रूप और अन्तरंग दोनों में ही, इस प्रकार पश्चिम के आधुनिक बुद्धिवादी नाटकों के प्रभाव से अनुप्राणित है।"[3]

एकांकी के कथानक के सामान्य गुणों में कौतूहल तथा एकाग्रता के साथ ही इसमें उद्देश्योन्मुखता का गुण पाया जाता है।

पात्र तथा चरित्र-चित्रण

'एक घूँट' में पात्रों का चुनाव इतिहास से नहीं किया गया है। बल्कि सामन्य दैनिक जीवन से किया गया है। साथ ही इनमें परम्परा के अनुरूप आदर्श गुणों की स्थापना नहीं की गई है। अत: पात्रों का चरित्रांकन भी भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप नहीं हो पाया है।

आधुनिक एकांकी के अनुरूप ही इसमें पात्र संख्या अधिक नहीं है। सामान्य रूप में इसमें आठ पात्र हैं, परन्तु कथा में सक्रिय भाग लेने वालों में चार-पाँच पात्र ही हैं—आनन्द, रसाल, वनलता, प्रेमलता तथा मुकुल। चंदुला पात्र एकांकी के शिल्प की दृष्टि से अनावश्यक होने पर भी भारतीय नाट्य-विधान में विदूषक होने के कारण

---

१. जयशंकर प्रसाद : एक घूँट : पहला दृश्य : पृ० ४५
२. डॉ० सिद्धनाथकुमार : हिन्दी एकांकी शिल्पविधि का विकास : पृ० १८३
३. डॉ० विश्वनाथ मिश्र : हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव : पृ० २५०

उल्लेखनीय हैं। यह कुछ प्रमुख पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालना समीचीन है।

वनलता—वनलता इस एकांकी की प्रधान पात्र है। नाटककार ने जो संदेश इस एकांकी मे व्यक्त किया है, उसमें वनलता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रतीक रूप में वनलता हृदय-पक्ष को प्रस्तुत करती है। वनलता के चरित्र में यौवनजन्य नारी-सुलभ पति-प्रेम को प्राप्त करने की आकांक्षा है। उसकी चिर प्यास, अतृप्ति निम्न शब्दों में स्पष्ट हुई है :

"आकर्षण किसी को बाहुपाश में जकड़ने के लिए प्रेरित कर रहा है। इस संचित स्नेह से यदि किसी रूखे मन को चिकना कर सकती ?"[1]

वनलता के माध्यम से प्रसादजी ने प्रेम के व्याहारिक पक्ष अथवा फ्रायडीय पक्ष को प्रस्तुत किया है। मानव-मन में जो चिरन्तन काम-भावना है, यौन-तृप्ति की लालसा है, वही वनलता के त्ररित्र की विशेषता है। इसी कारण आनन्द के तर्कमूलक स्वच्छन्द प्रेम का विरोध करती वह कहती है :

"और पेट की ही भूख-प्यास तो मानव-जीवन में नहीं होती। हृदय को —(छाती पर हाथ रख कर) कभी इसको भी टटोलकर देखा है। इसकी भूख-प्यास का भी अनुभव किया है?"[2]

वनलता के चरित्र में प्रेम की एकनिष्ठता का आदर्श भाव भारतीय परम्परा के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। वनलता के जीवन का उद्देश्य 'असंख्य जीवनों की भूल-भुलैया में अपने चिर-परिचित को खोज निकालना' है जिस अतृप्ति को लेकर वनलता एकांकी के प्रारम्भ में आती है, उसकी पूर्ति वह अन्त में करती है।

आनन्द—आनन्द सैद्धान्तिक रूप में हृदय तथा बुद्धिपक्ष का समर्थक होते हुए भी आद्यन्त एकांकी में बुद्धिपक्ष को लेकर चलता है। आनन्द के व्यावहारिक जीवन की विडम्बना यही है कि वह जीवन में हृदयपक्ष और बुद्धिपक्ष को समन्वित करके नहीं चलता।

आनन्द के चरित्र में बुद्धि-जन्य तर्कशीलता, विचारात्मकता के साथ ही दार्शनिकता भी मिलती है इन सब गुणों में भी आनन्द की तर्कशक्ति का सम्मोहन अत्यधिक आकर्षक है। आनन्द का निम्न कथन इसका परिचायक है :

"विश्व-चेतना के आकार धारण करने की शक्ति का नाम 'जीवन' है। जीवन का लक्ष्य 'सौन्दर्य' है, क्योंकि आनन्दमयी प्रेरणा जो उस चेष्टा या प्रयत्न का मूल रहस्य है, स्वस्थ - अपने आत्मभाव में, निर्विशेष रूप से—रहने पर सफल हो सकती है।"[3]

आनन्द के चरित्र के द्वारा प्रसादजी ने आनन्दवाद का समर्थन किया है। डॉ० शर्मा के शब्दों में "सिद्धान्त रूप में वह (आनन्द) शैवों के आनन्दवाद का समर्थक

---

१. जयशंकर प्रसाद : एक घूँट : प्रथम अंक प्रथम दृश्य : पृ० १२
२. वही : पृ० २२-२३
३. वही : पृ० १६

है।"[१] आनन्द के जीवन-दर्शन का मूल आधार है—किसी व्यक्तिविशेष तक ही अपने प्रेम को सीमित न रख स्वच्छन्द रूप में सभी से मुक्त भाव से प्रेम करना चाहिए।

एकांकी के अन्त में आनन्द के चरित्र में परिवर्तन होता है और उसका एक नवीन पहलू सामने आ जाता है। कोरे आदर्शवाद को छोड़कर वह यथार्थ के कटु सत्य को पहचानता है। बुद्धिपक्ष के साथ ही हृदयपक्ष की सत्ता को भी स्वीकार करता है।

रसाल—रसाल का चरित्र एक भावुक कवि का चरित्र है। अपनी ही भावनाओं में मग्न रहने वाला कवि अपनी पत्नी को समझने में असमर्थ रहता है।

आदन्द के तर्कमूलक व्यक्तित्व के आगे वह झुक जाता है, और उसके स्वच्छन्द प्रेम के सिद्धान्त का समर्थन करता है :

"आपका सन्देश हमारे आश्रम के लिए एक विशेष महत्त्व रखता है।"
रसाल के चरित्र में व्यावहारिकता की अपेक्षा सैद्धान्तिकता अधिक है। उसका अपना कोई सिद्धान्त नही है। आनन्द से प्रभावित होकर वह भी स्वच्छन्द प्रेम का उद्घोष करता है :

"आनन्दातिरेक से आत्मा का साकारता ग्रहण करना ही जीवन है। उसे सफल बनाने के लिए स्वचछन्द प्रेम करना सीखना-सिखाना होगा।"[२]
अंत में रसाल अपनी भूल स्वीकार कर एकनिष्ठ प्रेम में ही बँध जाता है।

संवाद-योजना

'एक घूंट' की संवाद-योजना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है चरित्रों के उद्घाटन के साथ ही कथा-सूत्र को आगे बढ़ाना। सामान्य रूप में इस एकांकी के संवाद आधुनिक एकांकी के शिल्प के अनुरूप ही संक्षिप्त, तीव्र तथा प्रभावोत्पादक हैं। प्रेमलता, वनलता तथा मुकुल के संवाद को उदाहरण के लिए उद्धृत किया जाता है :

प्रेमलता : किन्तु महोदय ! मैं आपके विरुद्ध आप ही की कए कविता गाकर सुनाना चाहती हूँ।

मुकुल : ठहरो प्रेमलता !

वनलता—वह ! गाने न दीजिए! जब तो मैं समझती हूँ कि कविजी को जो कुछ कहना था कह चुके।"[३]

किन्तु कहीं-कहीं प्रसादजी ने अपनी प्रकृति के कारण अत्यन्त दीर्घकाय संवाद भी रखे हैं। इन संवादों में भी जहाँ दार्शनिक चिन्तन-मनन मिलता है, वहाँ दुरुहता आ गई है। इस प्रकार के संवादों में आनन्द का निम्न कथन उल्लेखनीय है :

"विश्व-चेतना के आकार धारण करने की चेष्टा का नाम 'जीवन' है"।

---

१. डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा : प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : पृ० २०७
२. जयशंकर प्रसाद : एक घूंट : पहला अंक : पहला दृश्य : पृ०३४
३. वही : पृ० २७

स्वगत-कथन का प्रयोग प्रसादजी ने भारतीय नाट्य-विधान के अनुरूप अश्राव्य के रूप में ही किया है। एकांकी में अनेक स्थलों पर ऐसा प्रयोग मिलता है। आनन्द तथा प्रेमलता के वार्तालाप में प्रेमलता का स्वगत 'अहा, कितना मधुर यह प्रभात है!' इसी प्रकार प्रेमलता का यह कथन 'सहानुभूति भी अपराध है! अरे यह कितना निर्दय!' भी इसी प्रकार का है। समग्र रूप में देखने पर यह कहा जा सकता है कि संवाद अधिकांश में चुस्त हैं।

भाषा-शैली

एकांकी की भाषा-शैली सामान्य प्रेक्षक से सम्बन्ध होने के कारण व्यावहारिक होती है। प्रसादजी की शैली मूलतः काव्यात्मक है। 'एक घूंट' की शैली व्यावहारिक होते हुए भी अधिकांश में अलंकृत तथा काव्यात्मक है। डा० सिद्धनाथकुमार ने शैली की काव्यात्मकता के कारण इसे आधुनिक शिल्प का एकांकी नहीं माना है।[1] शैली की काव्यात्मकता निम्न उद्धरण से स्पष्ट हो जाती है :

"जैसे उजली धूप सबको हँसाती हुई आलोक फैला देती है, जैसे उल्लास की मुक्त प्रेरणा फूलों की पंखड़ियों को गद्‌गद कर देती है, जैसे सुरभि का शीतल झोंका सबका आलिंगन करने के लिए विह्वल रहता है, वैसे ही जीवन की निरन्तर परिस्थिति होनी चाहिए।"[2]

भाषा सामान्य रूप से एकस्तरीय होते हुए भी पात्र तथा स्थल के अनुरूप परिवर्तित होती गई है। आनन्द की भाषा तथा चन्दुला की भाषा में स्पष्ट अन्तर ज्ञात होता है।

गीत-विधान

इस एकांकी में कुल चार गीत हैं। प्रारम्भ में एक नेपथ्य गीत 'खोल तू अब भी आँखें खोल' मूलतः रहस्यात्मक है। आगे कथाक्रम में प्रेमलता के दो गीत हैं। पहला गीत 'जीवन में उजियाली है' प्रेमलता की मानसिक अवस्था को स्पष्ट करता है। दूसरा गीत 'जलधर की माला' करुणा की भावना को व्यक्त करता है। अन्तिम गीत 'मधुर मिलन कुञ्ज में' समवेत स्वर में आश्रम की स्त्रियों द्वारा गाया गया है। यह गीत भारतीय परम्परा के अनुरूप मंगल-गान होने के कारण, भरतवाक्य के समान है। इन गीतों में रहस्यात्मकता के साथ ही काव्यात्मकता भी मिलती है।

रस-योजना

इस एकाँकी में शृंगार रस की व्यंजना हुई है। रति स्थायी भाव की आश्रय वनलता है। इसका आलम्बन रसाल है। रसाल द्वारा वनलता के नेत्रों को अपने

---

१. डॉ० सिद्धनाथकुमार : हिन्दी एकांकी की शिल्पविधि का विकास : पृ० १८३

२. जयशंकर प्रसाद : एक घूंट : पहला अंक : पहला दृश्य : पृ० १६-१७

हाथों से वन्द करना उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आता है, तथा वनलता द्वारा बाहुपाश में जकड़ने की इच्छा तथा अन्त में अपने चिर परिचित जीवन साथी को आत्मसमर्पण अनुभाव कहलाता है । इस प्रकार इन सब अवयवो से पुष्ट होकर रति स्थायी भाव शृंगार रस का रूप धारण करता है ।

नाट्य-रूप

रूप-विधान की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि इस रचना पर भारतीय नाट्य-विधान के साथ पाश्चात्य यथार्थवाद का भी प्रभाव पड़ा है । कथानक के क्षेत्र में चंदुला तथा झाड़ूवाला का प्रसंग एकांकी की दृष्टि से अनावश्यक है तथा रसचर्वणा में बाधक है । डॉ० नगेन्द्र का भी यही कथन है कि 'चन्दुल की उपस्थिति रस-भंग अवश्य करता है और मन पर प्रभाव की एकरसता में व्याघात उत्पन्न हो जाता है ।'[१] अतः कथानक में भारतीय नाट्य-विधान तथा पश्चिमी यथार्थवाद स्पष्ट ही उभर कर सामने आ जाता है । किन्तु इसके साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि कथानक का विकास एकांकी के शिल्प के आधार पर ही हुआ है ।

चरित्रों के माध्यम से प्रसादजी ने एक विशेष जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति की है । एकांकी के उद्देश्य की सफलता इसमें मिलती है ।

आधुनिक एकांकी में जिस प्रकार विस्तृत रंग-संकेत दिए जाते हैं, उसी प्रकार इस एकांकी में प्रसादजी ने आद्योपांत रंगसंकेत दिए गए है । इस प्रकार की रगसंकेत देने की प्रणाली प्रसादजी के पूर्ववर्ती नाटकों में नहीं में नहीं मिलती ।

वातावरण-निर्माण की दृष्टि से इस एकांकी पर पाश्चात्य यथार्थवाद के प्रभाव-स्वरूप बौद्धिक वातावरण मिलता है । एकांकी में जो गीत मिलते हैं, उनसे भावुकता और काव्यात्मकता का सृजन हुआ है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'एक घूँट' एक अंक तथा एक ही दृश्य को लेकर, एक सुनिश्चित विचार-दर्शन को प्रस्तुत करने वाला, एकांकी नाटक है, जिसके कारण उसमें भारतीय नाट्य-विधान के साथ ही साथ पाश्चात्य यथार्थवादी नाट्य-शिल्प की विशेषताएँ भी आ गई हैं ।

●

---

२. डॉ० नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी नाटक : पृ० १३२

उपसंहार

भारतीय तथा यूरोपीय नाट्य-साहित्य के सैद्धान्तिक विवेचन के फलस्वरूप प्राप्त अनुभव यह है कि उद्भव की दृष्टि से दोनों देशों में नाटक का उद्भव धर्म के धरातल पर ही हुआ है। भारत में इन्द्र के विजयोत्सव तथा यूनान में डायनिशस की पूजा के उपलक्ष में नृत्य के माध्यम से ही नाटक का जन्म हुआ है। अतः अपने उद्-भव काल में नाटक धार्मिक विधि-विधान से सम्बद्ध था।

जहाँ तक नाट्यकला की सैद्धान्तिक समीक्षा का प्रश्न है, भारत में आद्य-नाट्याचार्य भरतमुनि तथा यूरोप में 'काव्यशास्त्र' के रचनाकार अरस्तू ने नाटक के स्वरूप के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक समीक्षा प्रस्तुत की है। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि परवर्तीकाल में दोनों देशों में इन दो आचार्यों द्वारा प्रतिपादित नियमों को ही आधार मानकर सिद्धान्तों का या तो समर्थन किया गया है, अथवा उनमें संशोधन प्रस्तुत किए गए।

भारतीय नाट्य-समीक्षा के अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समीक्षा मूलतः शास्त्रीय होने के कारण अनेकानेक विधि-विधानों के पालन का आदेश देती है। नाटक के स्वरूप-विश्लेषण में भारतीय नाट्याचार्यों ने 'वस्तु' को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। यद्यपि इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख किसी भी आचार्य ने नहीं किया है, तथापि जिस रूप में वस्तु का विवेचन-विश्लेषण विस्तारपूर्वक किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन आचार्य वस्तु के प्रति अत्यधिक जाग-रुक थे। ठीक यही अवस्था यूनानी नाटक की है। अरस्तु ने त्रासदी के सन्दर्भ में यह स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि त्रासदी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व 'वस्तु' है। चरित्र के बिना त्रासदी हो सकती है, किन्तु वस्तु के बिना नहीं। अरस्तू ने भी 'वस्तु' का विस्तार से विवेचन किया है और अनेकानेक उपबन्धों का उल्लेख भी किया है। अतः दोनों देशों में प्राचीन समय में समान रूप से ही वस्तु को महत्त्व दिया गया है।

चरित्र के सम्बन्ध में भी दोनो देशों में प्रायः एक समान ही आदर्शात्मक स्थिति को चित्रित किया गया है। भारतीय नाट्य-विधान में नायक के जिन सामान्य गुणों का वर्णन किया है वे उसे एक आदर्श व्यक्ति ही सिद्ध करते हैं। चरित्र में जो मानवीयताजन्य दुर्बलताएँ है, उनका उनमें प्रायः अभाव ही है। इसके साथ ही जिन गुणों के आधार पर नायक के चार प्रकार किए गए हैं, व्यावहारिक दृष्टि से वे अधिक उपादेय प्रतीत नहीं होते हैं। अरस्तू के विवेचन में भी नायक के गुणों का

उल्लेख मिलता है, किन्तु यहाँ त्रासदी नायक में कुछ चारित्रिक दोष भी दिखाए जाते हैं। नायक सम्बन्धी शेष विवेचन प्रायः समान ही मिलता है।

भारतीय तथा पश्चिमी नाट्यकला की एक अन्य समानता है नायिका सम्बन्धी विवेचन की न्यूनता। भारतीय नाट्य-ग्रन्थों में नायिका के सम्बन्ध में नायक के समान विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। अधिकांश में जो विवेचन मिलता है, वह काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों मे ही किया गया है। अरस्तू के पूरे विवेचन में नायिका सम्बन्धी कहीं भी कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता। सम्भावतः पुरुष ही स्त्रियों की भूमिकाएँ निभाते थे, अतः इसका उल्लेख नहीं किया गया।

भारतीय नाट्य-विधान मे रस तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। भरत-मुनि तथा अन्य परवर्ती आचार्यों ने नाटक का उद्देश्य रस का उन्मेष माना है। रस मूलतः आनन्दमयी चेतना माना गया है। इसी प्रकार अरस्तू के विवेचन-सिद्धान्त के अन्तर्गत भी यही सिद्ध किया गया है कि विवेचन से अन्ततः आनन्द ही मिलता है। वस्तुतः रस और आनन्द एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द है। अतः भारतीय और पाश्चात्य परम्परा मे नाटक के उद्देश्य के सम्बन्ध मे साम्य मिलता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों देशों की प्राचीन नाट्य-कला प्रायः समान ही है।

नाट्य-कला के विकास की दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि यूरोप में भारत की अपेक्षा अधिक जागरूकता पाई जाती है। यूरोप में समय-समय पर एक दूसरे की प्रतिक्रियास्वरूप नवीन नाट्य-रूपों का जन्म होता रहा है। शास्त्रीयता जब जड़ता में परिवर्तित होने लगी तो इसका विरोध करने के लिए नवीन धारा का जन्म हुआ, जिसे स्वच्छन्दतावाद का नाम दिया गया है। यूरोप में इसका आगमन पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ। किन्तु इस धारा ने भी जब अपने चरम विकास को प्राप्त किया तो इसके विरोध में उन्नीसवीं शताब्दी में यथार्थवादी धारा का आगमन हुआ और इस यथार्थवादी धारा की प्रतिक्रिया-स्वरूप फिर काव्य का नाटकों में समावेश किया गया। इसी प्रकार शिल्प के धरातल पर बड़े नाटकों की प्रतिक्रिया में एकांकी नाटक का जन्म हुआ। यूरोप में इस प्रकार नाट्य-जगत् में निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया का भाव पाया जाता है।

किन्तु इसके विपरीत हमारे यहाँ इस प्रकार का वैविध्य नहीं मिलता। उसका कारण स्पष्ट है कि हमारे यहाँ विदेशी आक्रमणकारियों के निरन्तर आक्रमणों से न तो नाट्य-रचना ही सम्भव हो पाई है और न ही नाट्यालोचना।

अंग्रेजों के भारत आगमन के साथ ही भारतीय साहित्यकार का परिचय यूरोपीय साहित्य से हुआ। आधुनिक युग का अधिकांश साहित्य विषय तथा शिल्प की दृष्टि से यूरोप से प्रभावित होकर लिखा गया है। नाटक के क्षेत्र में इसका प्रारम्भ भारतेन्दु से और विकास प्रसादजी से माना जाता है। प्रसादजी के समस्त नाट्य-साहित्य के परिशीलन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भारतीय नाट्य-

विधान को उसी सीमा तक ग्रहण किया है, जिससे नाट्यकला में कोई बन्धन नहीं पड़ा है। इसके साथ ही उन्होंने पश्चिम की अन्धी नकल भी नहीं की है। प्राचीन के साथ वर्तमान को इस रूप से सुनियोजित किया है जिससे भविष्य सुन्दर तथा आकर्षक लगने लगे। इसी कारण प्रसादजी को समन्वयवादी कलाकार माना जाता है। अपनी इस समन्वयवादी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' पुस्तक में 'रंगमंच' निबन्ध के अन्तर्गत लिखा है कि "अतीत और वर्तमान को देखकर भविष्य का निर्माण होता है; इसलिए हमको साहित्य में एकांगी लक्ष्य नहीं रखना चाहिए।"

प्रसाद के नाटक-साहित्य के अनुशीलन के पश्चात् उनकी नाट्यकला विषयक निष्कर्ष इस प्रकार हैं:

(१) 'कामना' और 'एक घूँट' के अतिरिक्त प्रसाद की शेष नाट्य-कृतियाँ पुराण तथा इतिहास से सम्बन्धित हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों पर शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावादी नाटकों का प्रभाव पड़ा है। प्रसादजी ने इतिहास के शुष्क कंकाल में जिन भावुक प्राणों का संचार किया है, वह स्वच्छन्दतावादी नाटककार ही कर सकता है। मूलतः रोमांटिक कवि होने के कारण प्रसादजी ने स्वर्णिम अतीत का आश्रय लिया है।

(२) प्रसादजी की नाट्य-कृतियों को देखने से यह स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि वे निरन्तर प्रयोगशील कलाकार रहे हैं। इसका प्रमाण यह है कि उन्होंने 'राज्यश्री' तथा 'अजातशत्रु' नाटक के दो-दो संस्करण निकाले तथा दूसरे संस्करण में पहले संस्करण की अपेक्षा परिवर्तन करके नाटक को अधिक आकर्षक बनाया। इसी प्रकार 'कल्याणी-परिणय' को पूर्णता देने के लिए उसे 'चन्द्रगुप्त' नाटक के चौथे अंक में समाविष्ट कर दिया।

(३) प्रसादजी की समन्वयवादिता नाट्य-तत्त्वों के अतिरिक्त इस बात से भी लक्षित होती है कि उन्होने 'प्रायश्चित्त' को छोड़कर शेष रचनाएँ भारतीय परम्परा के अनुरूप ही सुखान्त रखते हुए भी उनका निर्माण इस ढंग से किया है कि पाश्चात्य त्रासदी, कामदी आदि के तत्त्व भी उनमें बहुतायत मिलने लगते हैं।

(४) रचनाओं के काल-क्रम को देखने पर भी यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शिल्प के धरातल पर प्रसादजी निरन्तर नवीन प्रयोग करते गए हैं। प्रारम्भ में उन्होंने 'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय' सुखान्तक रचनाओं का निर्माण किया और उसके पश्चात् 'प्रायश्चित' दुःखान्तक रचना को प्रस्तुत किया।

(५) कथानक-निर्माण में प्रसादजी ने भारतीय कार्यावस्थाओं के साथ ही पश्चिम के संघर्ष को भी अपने सभी नाटकों में विन्यस्त किया है। समग्र रूप से देखने पर कहा जा सकता है कि भारतीय कार्यावस्थाओं की परिपूर्णता इन नाटकों में नहीं मिलती है, परन्तु पश्चिम के संघर्ष की विभिन्न अवस्थाएँ इनमें अवश्य ही मिलती हैं। 'अजातशत्रु' में भारतीय कार्यावस्थाओं के स्थान पर संघर्ष का व्यापक रूप मिलता है।

केवल 'स्कन्दगुप्त' नाटक में ही भारतीय कार्यावस्थाओं और संघर्ष की विभिन्न अवस्थाओं का समन्वय मिलता है।

प्रायः सभी बड़े नाटकों में आधिकारिक कथा के समान ही प्रासंगिक कथा मिलती है। यह प्रासंगिक कथा प्रायः प्रेम से सम्बद्ध होती है।

(६) प्रसाद नाट्य-साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि पात्रों के चरित्रांकन की है। पात्रों का चयन अधिकांश में इतिहास से किए जाने पर भी उनका चरित्रांकन पश्चिमी नाट्य-विधान के आधार पर किया गया है। प्रसादजी ने कुछ पात्रों का सृजन भी किया है। इन कल्पित पात्रों में पुरुष तथा स्त्री दोनों प्रकार के पात्र हैं। संख्या की दृष्टि से कल्पित पात्रों में स्त्री पात्रों की अधिकता है। इन पात्रों का निर्माण दो उद्देश्यों से किया गया है—

(क) इतिहास की विलुप्त शृंखलाओं को जोड़ने के लिए तथा;

(ख) नाटककार के उद्देश्य को स्पष्ट करने एवं नाटक में कवित्व एवं दर्शन संचार के लिए। वास्तव में ये दोनों उद्देश्य अन्तःसम्बद्ध हैं। प्रसादजी ने पात्रों में जिस अन्तर्द्वन्द्व का समावेश किया है उससे चरित्र में वैचित्र्य का भाव आ गया है।

(७) नाटकों की संवाद-योजना में निरन्तर परिष्कार होता गया है। 'सज्जन', 'प्रायश्चित्त', 'विशाख' आदि नाटकों में 'पद्यात्मक' संवाद मिलते है किन्तु शनैः-शनैः प्रसादजी इस प्रवृत्ति को छोड़ते गए हैं। अधिकांश में संवाद दीर्घ तथा कवित्व एवं दर्शन से युक्त हैं। 'स्वगत-कथन' के प्रयोग में प्रसादजी ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया है। भारतीय परम्परा के अनुरूप प्रसादजी ने कहीं तो स्वगत-कथन का प्रयोग अश्राव्य अथवा नियतश्राव्य के रूप में किया है और कहीं पश्चिमी विधान के अनुरूप पात्र की मनोदशाओं के स्पष्टीकरण के लिए। आनुपातिक दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी ने अधिकांश में पाश्चात्य-विधान को ही अपनाया है।

(८) अंक-विभाजन में प्रसादजी ने किसी सुस्पष्ट सिद्धान्त को सर्वत्र नहीं अपनाया है। अंकों की संख्या प्रायः तीन से लेकर पाँच तक रही है। अंकों के अन्तर्गत दृश्य-विभाजन की भी यही स्थिति है।

(९) प्रसाद के प्रायः सभी नाटकों में कवित्व तथा दर्शन मिलता है। कवित्व के कारण नाटकों में भावुकता का संचार हुआ है। परन्तु कुछ स्थलों पर नाटकीयता का ह्रास भी हुआ है।

प्रसाद के सभी प्रमुख पात्र नियति की अजेय शक्ति को स्वीकार करते हैं। प्रसादजी की नियति समस्त विश्व का नियमन करने वाली शक्ति है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख्य है कि यह नियति पश्चिमी भाग्यवाद से भिन्न है। पात्र नियति की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी कहीं निष्क्रिय नहीं होते हैं।

(१०) नाटक के स्थूल रूप से दो पक्ष होते हैं—रचना पक्ष तथा प्रदर्शन पक्ष (मंच पर प्रस्तुतिकरण)। ये दोनों पक्ष परस्पर सम्बद्ध हैं तथा एक-दूसरे को

प्रभावित करते हैं। दुर्भाग्यवश नाटक के रचना पक्ष को उसके प्रदर्शन पक्ष से अलग करके देखा जाता है। प्रसाद के नाटकों का रचना पक्ष की दृष्टि से कई वर्षों से निरन्तर विवेचन-विश्लेषण करने के उपरांत अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि प्रसादजी के नाटक रंगमंच की दृष्टि से दोष-युक्त हैं। उनको रंगमंच दर सरलता से अभिनीत नहीं किया जा सकता है।

इस आक्षेप का उत्तर यहाँ नहीं दिया जा रहा है। परन्तु इतना अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रसादजी को प्राचीन भारतीय रंगमंच के अतिरिक्त आधुनिक पाश्चात्य रंगमंच का भी व्यावहारिक ज्ञान था। 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' पुस्तक में 'रंगमंच' निबन्ध में उन्होंने इस पर विस्तृत लेख दिया है। इस निबंध के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रसादजी नाटक के अनुरूप रंगमंच बनाने के पक्ष में थे। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में यदि इस प्रकार के दृश्य रखे हैं जिन्हें सरलता से अभिनीत नहीं किए जा सकता तो, प्रसादजी पर दोष लगाना समीचीन नही है।

समाहार करते हुए हम कह सकते है कि प्रसादजी ने अतीत और वर्तमान का जिस रूप में अपने नाटकों में समन्वय किया है, उससे परम्परा के निर्वाह के साथ ही साथ नवीन प्रयोग का भी सम्मिलन हो गया है। इसे हम परम्परा और प्रयोग का सम्मिश्रण भी कह सकते हैं। भारतवर्ष की यह परम्परा रही है कि समन्वयवादी दार्शनिक-विचारक और कलाकार को ही हम श्रेष्ठ व्यक्तित्व के रूप में बहुमान देते रहे हैं, एकाकी व्यक्तियों को नहीं। इस दृष्टि से विचार करने पर समन्वयवादी प्रसाद जी निश्चय ही हिन्दी नाट्यकारों में शिरोमणि के रूप में आज भी दीप्तिमान हैं।

ग्रन्थ-सूची

उपजीव्य ग्रन्थ

अनुक्रमांक	ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक एवं प्रकाशन काल
१	अजातशत्रु	जयशंकर प्रसाद	भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०२२ वि०
२	एक घूँट	,,	भारती भण्डार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, २०२२ वि०
३	करुणालय	,,	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१८ वि०
४	कल्याणी-परिणय	,,	नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग-१७, संख्या-२, सन् १९१२
५	कामना	,,	भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१९ वि०
६	चन्द्रगुप्त	,,	भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २००७ वि०
७	जनमेजय का नागयज्ञ	,,	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१७ वि०
८	ध्रुवस्वामिनी	,,	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१९ वि०
९	प्रायश्चित्त (चित्राधार में संकलित)	,,	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१४ वि०
१०	राज्यश्री	,,	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१४ वि०
११	विशाख	,,	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१३ वि०

१२	स्कन्दगुप्त	,,	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०११ वि०
१३	सज्जन (चित्राधार में संकलित)	,,	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१४ वि०

उपस्कारक ग्रन्थ

१४	अरस्तू का काव्य-शास्त्र	सं० डॉ० नगेन्द्र	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २०१४ वि०
१५	आधुनिक हिन्दी नाटक	,,	साहित्यरत्न भंडार, आगरा-सन् १९६४ ई०
१६	आधुनिक साहित्य	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, २००७ वि०
१७	एकांकी कला	डॉ० रामकुमार वर्मा	रामनारायणलाल, इलाहाबाद सन् १९६०
१८	काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद	भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पंचम् संस्करण
१९	दशरूपक	धनंजय	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली सन् १९६३ ई०
२०	नाट्यशास्त्र	भरतमुनि	मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी–सन् १९६४ ई०
२१	नाट्यदर्पण	रामचन्द्र-गुणचन्द्र	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
२२	नाटक लक्षण-रत्नकोष	सागर नन्दिन	आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन—सन् १९३७ ई०
२३	नाटक की परख	डॉ० एस० पी० खत्री	साहित्य भवन लि०, प्रयाग सन् १९४८ ई०
२४	नया साहित्य : नये प्रश्न	आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी	विद्यामन्दिर, बनारस-१
२५	प्रसाद-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि	डॉ० प्रेमदत्त शर्मा	जयपुर पुस्तक सदन, जयपुर—सन् १९६८ ई०
२६	प्रसाद के नाटक	परमेश्वरीलाल गुप्त	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी–सन् १९५६ ई०

२७	प्रसाद की नाट्य-कला	प्रो० रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'	मानस मुक्ता कार्यालय, मुरादाबाद, सन् १९३० ई०
२८	प्रसाद का जीवन और साहित्य	डॉ० रामरतन भटनागर	राजधानी प्रकाशन, दिल्ली
२९	प्रसादजी की कला	डॉ० गुलाबराय	साहित्यरत्न भंडार, आगरा, तृतीय संस्करण
३०	प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन	डॉ० जगन्नाथ-प्रसाद शर्मा	सरस्वती मन्दिर, बनारस २०१० वि०
३१	भारतीय-नाट्य-साहित्य	सं० डॉ० नगेन्द्र	एस० चन्द एण्ड कम्पनी, दिल्ली, १९६८ ई०
३२	भारतीय नाट्य-शास्त्र की परम्परा और दशरूपक	सं० डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६३ ई०
३३	रस-सिद्धांत	डॉ० नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४ ई०
३४	सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य नाटक	सिद्धनाथ कुमार	हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, सन् १९७० ई०
३५	साहित्य दर्पण	आचार्य विश्वनाथ	मोतीलाला बनारसीदास, सन् १९६७ ई०
३६	हिन्दी के पौराणिक नाटक	डॉ० देवर्षि सनाढ्य	चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, सन् १९६१ ई०
३७	हिंदी नाटक : उद्भव और विकास	डॉ० दशरथ ओझा	राजपाल एण्ड संज, दिल्ली सन् १९६१ ई०
३८	हिन्दी त्रासदी : सिद्धांत और परम्परा	डॉ० कैलाशपति	साहित्य-सदन, देहरादून, सन् १९६८ ई०
३९	हिन्दी नाटक	डॉ० बच्चनसिंह	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९६७ ई०
४०	हिन्दी के स्वच्छन्दता-वादी नाटक	डॉ० दशरथसिंह	विद्या मंदिर, वाराणसी सन् १९६२ ई०
४१	हिन्दी अभिनव भारती	अभिनव गुप्त	दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सन् १९७० ई०

४२	हिन्दी एकांकी की शिल्पविधि का विकास	डॉ० सिद्धनाथ कुमार	ग्रंथम कानपुर, सन् १६६८ ई०
४३	हिन्दी गीतिनाट्य	श्री कृष्ण सिंहल	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी सन् १६६४ ई०
४४	हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव	डॉ० विश्वनाथ मिश्र	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १६६६ ई०
४५	हिन्दी नाटकों का विकासात्मक अध्ययन	डॉ० शांतिगोपाल पुरोहित	साहित्य-सदन, देहरादून सन् १६६४ ई०
४६	हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव	डॉ० श्रीपति शर्मा	विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सन् १६६१ ई०
४७	हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक, अध्ययन	डॉ० वेदपाल खन्ना 'विमल'	श्री भारत भारती (प्रा०) लि०, दिल्ली, सन् १६५८ ई०
४८	हिन्दी साहित्य कोश	सं० डॉ० वीरेन्द्र वर्मा	ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी २०२० वि०

ENGLISH BOOKS

49.	A History of English Literature.	Edward Albert.	George G. Harrap & Co., London—1955.
50.	Aristotle's Theory of Poetry & Fine Arts.	S. H. Butcher.	Dover Publications, America—4th Ed.
51.	Aristotle's Poetics.	Humphry House.	Lyall Book Depot, Ludhiana—1965.
52.	Aristotle on the Art of Poetry.	Ingram Bywater.	Oxford Press, London—1947.
53.	A Critical History	David Daiches.	Secker & Warburg,

	of English Literature.		London—1963.
54.	A Handbook for the Study of Drama.	Lynn Altenbernd.	The Macmillan Co., London—1966.
55.	Comedy.	L. J. Potts.	Hutchrison's University Library, London—1948.
56.	Dictionary of English literature.	H. A. Watt.	Barnes & Noble, New York—1946.
57.	Dictionary of World Literature.	J. T. Shipley.	Littlefield, Adams & Co , New Jersey —1962.
58.	Encyclopaedia Britannica—Vol. 5		Encyclopaedia Britannica, Ltd. London —1951.
59	Greak Tragedy & the Modern World.	Leo Aylen.	Mathuen & Co., Ltd., London—1964.
60.	Handbook of Literary Terms.	H. L. Yelland.	Angus & Robertson, London–1950.
61.	Masters of the Drama.	John Gassner.	Dover Publications, America—3rd Ed.
62.	Modern Poetic Drama.	Priscilla Thouless	Basil Blackwell, Oxford.
63.	Murder in the Cathedral.	T. S. Eliot.	Basil Blackwell, Oxford—1965.
64.	One Act Plays of Today.	R. Gray.	P. T. I. Book Depot., Bangalore—1933.

65.	Selected Essays.	T. S. Eliot.	Faber & Faber Ltd., London—1951.
66.	Selected Prose.	T. S. Eliort.	Panguin Books Ltd. England.
67.	Typical Forms of English Literature.	A. H. Upham.	Oxford University Press, New York—1927.
68.	T. S. Eliot.	T. S. Pearce.	Evans Brothers Ltd., London—1967.
69.	The Twentieth Century Drama.	Lynton Hudson.	George G. Harrap & Co., London—1947.
70.	The Making of Literature.	R. A. Scott James.	Mercury Books, London—1963.
71.	Tragedy.	F. L. Lucas.	Collier Books, New York—1965.
72	The Greek Tragic Poets.	D. W. Lucas.	Cohen & West Ltd London—1950.
73.	The Theory of Rasa in Sanskrit Drama.	Dr. Hari Ram Misra.	Vindyachal Prakashan, Chattarpur —1964.
74.	The Laws and Practice of Sanskrit Drama.	Dr. S. N. Sastri	Chowkhambha Prakashan, Varanasi —1961.
75.	The Handbook of Classical Drama.	R. Y. Hathhorn.	London—1967.
76.	Type of Tragic Drama.	C. E. Vaughan.	Macmillan & Co., Ltd. London—1936.

77.	The Art of Drama.	Ronald Peacock.	Routledge and Kagan Paul, London —1957.
78.	World Drama.	A. Nicoll.	George G. Harrap & Co. Ltd., London —1959.

●